

श्री यशोविजयजी

जैन ग्रंथमाला

दादासाहेब, लापनगर.

फोन : ०२७८-२४२५३२२

300४८४५

गार्ड स्मारक ग्रन्थमाला नं० ७



संक्षिप्त जैन इतिहास ।

भाग ३-खण्ड १

“दिगम्बर जैन” के ३० वें वर्षका
उपहारग्रन्थ ।

—बाबू कामताप्रसादजी—अलीगंज ।

सौ० सविताबाई कापडिया स्मारक ग्रन्थमाला नं० ७

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

संक्षिप्त जैन इतिहास ।

भाग ३—खण्ड १

[दक्षिणभारतके जैनधर्मका इतिहास।]

विभाग—

१. पौराणिक काल

२. ऐतिहासिक कालः—

१—प्राचीन काल (ई०पू० ९०००से १ ई०पू०)

२—मध्य काल (सन् १ से १४०० ई०)

३—वर्वाचीन काल (उपरान्त)

लेखकः—

कामताप्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

सम्पादक—वीर व जैन सि० भास्कर, अलीगंज (एटा)

प्रकाशकः—

मूलचन्द्र किसनदास कापडिया,

मालिक, दिगंबरजैनपुस्तकालय कापडियाभवन—सूरत।

स्वर्गीय सौ० सविताबाई, धर्मपत्नी, मूलचंद्र किसनदास
कापडियाके स्मरणार्थ “दिगंबर जैन” के
३० वें वर्षके माहकोको भेट।

प्रथमावृत्ति]

वीर सं० २४६३

[प्रति १०००

मूल्य—रु० १-०-०.



“**जैनविजय**” प्रिन्टिंग प्रेस, खपटिया चकला-सूरतमें
मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया ।



सौ० सविताबाई-



-स्मारक ग्रंथमाला नं. ७

हमारी स्वर्गीय धर्मपत्नी सौ० सविताबाईका वीर सं० २४५६ भादों वदी १० को सिर्फ २२ वर्षकी अल्प आयुमें एक पुत्र चि० बाबूभाई और एक पुत्री चि० दमयंतीको ४ और २ वर्षके छोड़कर पीलियाके रोगसे स्वर्गवास होगया था, उनके स्मरणार्थ उस समय २६१२) का दान किया गया था। जिसमेंसे २०००) स्थायी शालदानके लिये निकाले थे, जिसकी आयसे प्रति वर्ष एक२ ग्रन्थ नवीन प्रकट करके 'दिगम्बर जैन' या 'जैन महिलादर्श' के ग्राहकोंको उपहारमें दिया जाता है।

आज तक इस ग्रंथमालासे निम्न लिखित ६ ग्रंथ प्रकट हो चुके हैं जो, जैन महिलादर्श या दिगम्बर जैनके ग्राहकोंको भेंट दिये जाचुके हैं।

- १-ऐतिहासिक स्त्रियां-(ब्र० पं० चंदाबाईजी कृत) ॥)
- २-संक्षिप्त जैन इतिहास-(द्वि० भाग प्र० खण्ड) १॥॥)
- ३-पंचरत्न-(बा० कामताप्रसादजी कृत) १=)
- ४-संक्षिप्त जैन इतिहास-(द्वि० भाग, दि० खण्ड) १=)
- ५-वीर पाठावली-(बा० कामताप्रसादजी कृत) ॥॥)
- ६-जैनत्व-(रमणीक वी० शाह बक़ील कृत, गुजराती) १=)

और यह ७ वां ग्रन्थ संक्षिप्त जैन इतिहास तृतीय भाग—प्रथम खंड (बा० कामताप्रसादजी कृत) प्रकट किया जाता है जो 'दिगंबर जैन' पत्रके ३० वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट बांटा जा रहा है तथा जो 'दिगंबर जैन' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है कि बहुत खोज व परिश्रमपूर्वक तैयार किये गये ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थोंका जैन समाजमें शीघ्र ही प्रचार होजायगा। इस ऐतिहासिक ग्रन्थके लेखक बा० कामता-प्रसादजीका दि० जैन समाजपर अनन्य उपकार है, जो वर्षोंसे अतीव श्रमपूर्वक प्राचीन जैन साहित्यको खोजपूर्वक प्रकाशमें ला रहे हैं।

यदि जैन समाजके श्रीमान् शास्त्रदानका महत्व समझें तो ऐसी कई स्मारक ग्रन्थमालायें निकल सकती हैं और हजारों तो क्या लाखों ग्रन्थ भेंट स्वरूप या लागत मूल्यसे प्रकट होसकते हैं, जिसके लिये सिर्फ दानकी दिशा ही बदलनेकी आवश्यकता है। अब द्रव्यका उपयोग मंदिरोंमें उपकरण आदि बनवानेमें या प्रभावना बंटवानेमें करनेकी आवश्यकता नहीं है लेकिन द्रव्यका उपयोग विद्यादान और शास्त्रदानमें ही करनेकी आवश्यकता है।

सुरत
वीर सं० २४६३
आश्विन वदी ३

निवेदक—
मूलचन्द्र किसनदास कापडिया,
प्रकाशक।



आभार ।

“संक्षिप्त जैन इतिहास” के पहले दो भाग प्रगट हो चुके हैं। आज उसका तीसरा भाग पाठकों के हाथों में देते हुए हमें प्रसन्नता है। यह तीसरे भाग का पहला खण्ड है और इसमें दक्षिण भारत के जैनधर्म और जैन संघ का इतिहास-पौराणिककाल से प्रारंभिक ऐतिहासिक काल तक का संकलित है। सम्भव है कि विद्वान् पाठक पुराणगत वार्ता को इतिहास स्वीकार न करें, परन्तु उन्हें स्मरण होना चाहिये कि भारतीय शास्त्रकारों ने पुराण वार्ता को भी इतिहास घोषित किया है।

जब तक इस पुराण वार्ता के विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध न हो तब तक उसे मान्य ठहराना हमारा कर्तव्य है। आखिर प्राङ् ऐतिहासिक काल के इतिहास को जानने के वही तो एक मात्र साधन हैं—उन्हें हम मुला कैसे दें? उनके एवं अन्य साक्षी के आधार से हमने दक्षिण भारत में जैनधर्म का अस्तित्व अतिप्राचीन सिद्ध किया है। आशा है, विद्वज्जन हमारे इस मत को स्वीकार करने में संकोच नहीं करेंगे।

इस अवसर पर हम इन पुराण और शास्त्रकारों का आभार हृदय से स्वीकार करते हैं। साथ ही अन्यान्य सम्माननीय लेखकों के भी हम उपकृत हैं जिनकी रचनाओं से हमने सहायता ग्रहण की है।

यहाँ पर हम अध्यक्ष, श्री जैनसिद्धांत भवन-आरा और सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया को भी नहीं भुला सकते। उन्होंने आवश्यक साहित्य जुटाकर हमारे कार्य को सुगम बना दिया जिसके लिये वह हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है कि जब तक कोई इससे भी श्रेष्ठ जैन इतिहास न रचा जाय, तब तक यह पाठकों की आवश्यकता की पूर्ति करेगा। एवमस्तु !

अर्कागंज (एटा)

ता० १६-८-३७।

} विनीत—कामताप्रसाद जैन ।

समर्पण ।

जैन-साहित्य-प्रकाशन

के

पुनीत कार्यमें

दत्त-चित्त,

विवेकी

मित्र

श्री. ए. एन. उपाध्ये महोदय

के

कर-कमलों

में

सादर

सप्रेम

समर्पित ।

— लेखक ।



सांक्षिप्त जैन इतिहास ।

[लेखक—बाबू कामताप्रसादजी जैन ।]

प्रथम भाग—यह ईस्वीसन् पूर्व ६०० वर्षसे पहिलेका इतिहास है । इसके ६ परिच्छेदोंमें जैन भूगोलमें भारतका स्थान, ऋषभदेव और कर्मभूमि, अन्य तीर्थंकर आदिका वर्णन है । थोड़ीसी प्रतियां बची हैं । मूल्य ॥३॥)

दूसरा भागः प्रथम खण्ड—यह ईस्वी सन् पूर्व छठी शताब्दीसे सन् १३०० तकका प्रामाणिक जैन इतिहास है । इसे पढ़कर मालूम होगा कि पहले जमानेमें जैनोंने कैसी वीरता बतलाई थी । इसमें विद्वत्तापूर्ण प्राकथन, ४० महावीर, वीरसंघ और अन्य राजा, तत्कालीन सभ्यता और परिस्थिति, सिकन्दरका आक्रमण और तत्कालीन जैनसाधु, श्रुतकेवली, भद्रबाहु और अन्य आचार्य, तथा मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त आदिका १२ अध्यायोंमें विशद वर्णन है । शृष्ठ संख्या ३०० मू० १॥॥)

दूसरा भागः द्वितीय खंड—इसमें अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विषयोंका सप्रमाण कथन किया गया है । यथा—चौबीस तीर्थंकर, जैन धर्मकी विशेषता, दिगम्बर संघभेद, श्वे० की उत्पत्ति, उपजातियोंकी उत्पत्ति और इतिहास, उत्तरी भारतके राजा और जैनधर्म, मवालियरके राजा व जैनधर्म, मुनिधर्म, गृहस्थ धर्म, अजैनोकी शुद्धि, जैन धर्मकी उपयोगिता आदि १२५ विषयोंका सुबोध और सप्रमाण कथन है । पृ० २०० मूल्य १=)

मैनेजर, दिगम्बरजैनपुस्तकालय—सूरत ।

विषयसूची ।

१-प्राक्कथन	१
२-पौराणिक काल (ऋषभदेव और भरत)		१७
३-अन्य तीर्थंकर और नारायण त्रिपृष्ठ	३०
४-पोदनपुरके अन्य राजा....	३३
५-चक्रवर्ती हरिषेण	३४
६-राम, लक्ष्मण और रावण	३६
७-राजा ऐलेय और उसके वंशज	४६
८-कामदेव नामकुमार	४८
९-दक्षिण भारतका ऐतिहासिक काल	५५
१०-भ० अरिष्टनेमि, कृष्ण और पांडव	६८
११-भगवान पार्श्वनाथ	८४
१२-महाराजा करकण्डु	८८
१३-भगवान महावीर	९२
१४-सम्राट् श्रेणिक, जंबुकुमार और विद्युच्चर....		९४
१५-नन्द और मौर्य सम्राट्	९९
१६-मागध साम्राज्य	१०७
१७-द्राविड राज्य	११२
१८-पाण्ड्य राज्य, चोल राज्य, चेर राज्य	११५
१९-दक्षिण भारतका जैन संघ, जैन संघकी प्राचीनता	१२९
२०-जैन सिद्धांत, श्वेताम्बर जैनी	१३४
२१-श्री भरसेनाचार्य और श्रुत ऊद्धार	१३७
२२-मूल संघ, श्री कुंदकुंदाचार्य	१३९
२३-कुरल काव्य	१४३
२४-उमास्वामी (उमास्वाति)	१४७
२५-स्वामी समंतभद्र	१५०

संकेताक्षर सूची ।

प्रस्तुत ग्रन्थके संकलनमें निम्न ग्रन्थोंसे सहायता ग्रहण की गई है, जिनका उल्लेख निम्न संकेतरूपमें यथास्थान किया गया है—

अब०=अशोकके बर्मकेख-लेखक श्री० जनार्दन भट्ट एम० ए० (काशी, सं० १९८०) ।

अहिइ०='अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया'-सर विंसेन्ट स्मिथ एम० ए० (चौथी आवृत्ति) ।

अशोक०='अशोक' के० सर विन्सेन्ट स्मिथ एम० एम० ।

आक०='आराधना कथाकोष' के० ब्र० नेमिदत्त (जैनमित्र आफिस, सूरत) ।

आजी०=आजीविकस-भाग १ डॉ० वेनी माधव बारुआ० डी० लिट् (कलकत्ता १९२०) ।

आसू०='आचाराङ्ग सूत्र' मुक्त (श्वेतांबर आगम ग्रंथ) ।

अहिइ०=ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया-विन्सेन्ट स्मिथ एम० ए० ।

अभेरिइं०=अनलस ऑव भंडारकर रिचर्स इंस्टीट्यूट, पूना ।

आइइं०=ऑरीजिनेट इन्वैबीटेन्ट्स ऑव इंडिया, ऑपर्ट सा० कुत (मद्रास) ।

आपु०=आदिपुराण, पं० लाळाराम द्वारा संपादित (इंदौर) ।

इऐ०=इन्डियन ऐन्टीकोरी (त्रैमासिक पत्रिका) ।

इरिई०=इन्सायक्लोपेडिया ऑफ रिडीजन एण्ड इथिक्स इट्रिग्स ।

इसेजे०='इन्डियन सेक्ट ऑफ दी जेन्स' बुम्हर ।

इहिक्वा०=इंडियन हिस्टोरीकल क्वार्टर्ली-सं० डॉ० नरेन्द्रनाथ ठा-कलकत्ता ।

इका० अथवा एका०—इपीग्रेफिया कर्नाटिका (बंगलोर) ।

इंए०=इंडियन एन्टीकेरी (बम्बई) ।

उद०='उवासगदसाओ सुत्त०'-डॉ० हार्णडे (Biblo Indica).

उपु०व०उ.पु.=‘उत्तरपुराण’ श्री गुणमद्राचार्य व पं.ठाळारामजी ।

उसु०='उत्तराध्ययन सूत्र' (श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थ) जार्ज कार्पेटियर (उपसळा) ।

एइ०='एपिग्रेफिया इंडिका' ।

एइमे० या मेएइ०=एन्शियेन्ट इन्डिया एजडिस्क्राइन्ड बाई 'मेगस्थनीज एण्ड ऐरियन'-(१८७७) ।

एइजै०=एन इपीटोम ऑफ जैनीज्म—श्री पूर्णचन्द्र नाहर एम०ए० ।

एमिश्चट्रा०=' एन्शियेन्ट मिड इंडियन क्षत्रिय ट्राइन्स ' डॉ० विमलचरण लॉ (कलकत्ता) ।

एइ०=एन्शियेन्ट इंडिया एजडिस्क्राइन्ड बाई स्ट्रेबो मेक क्रिडक (१८०१) ।

ऐरि०=ऐशियाटिक रिसर्चेंज—सर विलियम जोन्स (सन् १७९९ व १९०९) ।

कजाइ०=कनिंघम, जागरफी ऑफ एंशियेन्ट इंडिया—(कलकत्ता १९२४) ।

कलि०=' ए हिस्ट्री ऑफ कनारीज लिटरेचर ' ई० पी० राइस (H. L. S. 1921).

कसु०=करुपसुत्र मूल (श्वेताम्बरी आगम ग्रन्थ) ।

काळे०=कारमाइकल डेक्वर्स डॉ० डी० आर० भाण्डारकार ।

कैहिइ०=कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐन्शियेन्ट इंडिया, भा० १-रेक्सन सा० (१९२२) ।

कच०=करकण्डुचरिय, प्रो० हीराळाळ द्वारा संपादित (कारजा)।

कृपेइं०=कृष्णस्वामी ऐंगरकृत ऐन्शियेन्ट इंडिया (लंदन १९११)

गुसापरि०=गुजराती साहित्य परिषद् रिपोर्ट-सातवीं। (भाव-
नगर सं० १९२२)।

गौबु०='गौतमबुद्ध' के० जे० सॉन्डर्स (H. L. S.)

गैब०=गैजेटियर ऑफ बम्बई, भाण्डारकर आदि कृत।

गैमैकु०=गैजेटियर ऑफ मैसूर एण्ड कुर्ग।

चमभ०='चन्द्रराज भण्डारी कृत भगवान महावीर'।

जवि ओसो०=जनरल आफ दी विहार एण्ड ओडीसा रिसर्च
सोसाइटी'।

जम्बू०=जम्बूकुमार चरित्र (सुरत वीराब्द २४४०)।

जमीसो०=जर्नेल ऑफ दी मीथिक सोसाइटी-बेंगलोर।

जराएसा०=जर्नेल ऑफ दी रायल एसियाटिक सोसाइटी-लंदन।

जैका०='जैन कानून' (श्री० चम्पतरायजी जैन विद्याबा०
विजनौर (१९२८))।

जैग०='जैन गजट' अंग्रेजी (लखनऊ)।

जैप्र०=जैनधर्म प्रकाश ब्र० शीतलप्रसादजी (विजनौर १९२७)।

जैस्तू०=जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीकटीज ऑफ मथुरा-स्मिथ।

जैसासं०='जैन साहित्य संशोधक' मु० जिनविजयजी (पूना)।

जैसिभा०=जैन सिद्धान्त भास्कर श्री पद्मराज जैन (कलकत्ता)।

जैशि सं०='जैन शिळालेख संग्रह'-प्रो० हीराळाळ जैन (माणि-
कचन्द्र ग्रन्थमाला)।

जैहि०=जैन हितैषी सं० पं० नाथूरामजी व पं० जुगलकिशो-
रजी (बम्बई)।

जैसू० (Js.)=जैन सूत्राज (S. E. Series, Vols. XXII & XLV).

जम्बू०=जम्बूकुमार चरित (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाळा, बम्बई)।

जसाई०=प्रो०एस०भार० शर्मा कृत जैनीज्म इन साउथ इंडिया।

टोरा०=टोडसा० कृत राजस्थानका इतिहास वेङ्कटेश्वर प्रेस।

डिजेवा०='ए डिक्शनरी ऑफ जैन बायोग्रेफी' श्री उमरावसिंह टोंक (भारा)।

तक्ष०='ए गाइड टू तक्ष'शका'-सर ज्ञान मारशक (१९१८)।

तत्त्वार्थ०=तत्त्वार्थाधिगमसूत्र श्री उमास्वाति S.B.J. Vol.।

तिप०='तिष्ठोय पण्यत्ति' श्री यति वृषभाचार्य (जैन हितैषी भा० १३ अंक १२)।

दिजै०='दि० जैन मासिक पत्र सं० श्री० मूकचन्द्र किसनदास कापडिया (सुरत)।

दीनि०='दीवनिनाम' (P. T. S.)

नाच०=नायकुमार चरित (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाळा, बम्बई)।

परि०=परिशिष्ट पर्व-श्री हेमचन्द्राचार्य।

प्राजैलेस०=प्राचीन जैन लेख संग्रह कामताप्रसाद जैन (वर्णा)।

प्रसा०=प्रवचनसार, प्रो० ए०एन०उपाध्ये द्वारा संपादित बम्बई।

बविओ जैस्मा०=बंगाल, बिहार, ओडीसा जैन स्मारक-श्री० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी (सुरत)।

बजैस्मा०=बम्बई प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक ब्र०शीतलप्रसादजी।

बुइ०=बुद्धिष्ट इंडिया प्रो० ह्रीस डेविड्स।

बुस्ट०=बुद्धिस्टिक स्टडीज, डॉ० विमलचरण लॉ द्वारा संपादित कलकत्ता।

मपा०=भगवान् पार्श्वनाथ-डे० कामताप्रसाद जैन (सूरत) ।

मम०=भगवान् महावीर-

ममबु०=भगवान् महावीर और म०बुद्ध कामताप्रसाद जैन (सूरत)

ममी०=भट्टारक मीमांसा (गुजराती) सूरत ।

ममभ०=भगवान् महावीरकी अहिंसा (दिल्ली)

भाई०=भारतवर्षका इतिहास-डॉ० ईश्वरीप्रसाद डी० डिट्
(प्रयाग १९२७) ।

भाअशो०=अशोक-डॉ० भाण्डारकर (कलकत्ता) ।

भाप्रारा०=भारतके प्राचीन राजवंश श्री० विश्वेश्वरनाथ रेड् बम्बई ।

भाप्रासइ०=भारतकी प्राचीन सभ्यताका इतिहास, सर रमेशचंद्र दत्त ।

मजैइ०=मराठी जैन इतिहास ।

मनि०=
मज्झिम०=} मज्झिमनिकाय P. T. S.

ममप्रज्ञेस्मा०=प्रज्ञासमैसुरके प्रा० जैनस्मारक ब्र० शीतलप्रसाद जी ।

महा०=महावग्ग (S. B. E. Vol. XVII).

मिलिन्द्र०=मिलिन्द पन्थ (S. B. Vol. XXXV.)

मुरा०=मुद्राराक्षस नाटक-इन दी हिन्दू ड्रामेटिक्स वर्कस, विरसन ।

मुळा०=मुळाचार वट्टकेर स्वामी (हिन्दी भाषा सहित बम्बई) ।

मैबु०=मैन्थुल ऑफ बुद्धिज्म=(स्पेनहाई) ।

मैअशो०=अशोक मैकफैक कृत (H. L. S.)

मारि०=मार्डनरिथ्यू, सं० रामानंद चटर्जी (कलकत्ता) ।

मैकु०=मैसुर एण्ड कुर्ग फ्राम इंस्क्रिपशन्स-राइस (बंगलोर) ।

मैबु०=मैन्थुल ऑफ बुद्धिज्म-(स्पेनहाई)

मोद०=मोहेनजोदरो-सर जॉन मार्शल (लन्दन) ।

रश्मा०=रत्नकरण्ड श्रावकाचार सं० पं० जुगलकिशोरजी (बम्बई)
राइ०=राजपूतानेका इतिहास भाग १-रा० ब० पं० गौरीशंकर
हीराचंद ओझा ।

रिह०=रिलिजस ऑफ दी इम्पायर-(लन्दन) ।

काजाम०=काइफ ऑफ महावीर का० माणिकचंद्रजी (इलाहाबाद)।

कामाई०=भारतवर्षका इतिहास का० काजपतरायकृत (लाहौर)।

काम०=कार्ड महावीर एण्ड अषर टीचर्स ऑफ हिज टाइम-
कामताप्रसाद (दिल्ली) ।

कावबु०=काइफ एण्ड वर्क्स ऑफ बुद्ध घोष-डॉ० विमलाचरण
डॉ० (कलकत्ता) ।

काबने०=कार्ड अरिष्टनेमि, (दिल्ली) ।

बृजेश०=बृहद् जैन शब्दार्णव-पं० बिहारीलाल चैतन्य ।

विर०=विहृद् रत्नमाळा-पं० नाथूरामजी प्रेमी (बम्बई) ।

विभा०=विशालभारत, सं० श्री बनारसीदास चतुर्वेदी कलकत्ता ।

श्रव०=श्रवणवेळगोळा, रा० ब० प्रो० नरसिंहाचार एम० ए०
(मद्रास) ।

श्रेच०=श्रेणिक चरित्र (सुरत) ।

सभामिर्वा०=सर आशुतोष : मोरियल वॉल्यूम (पटना) ।

सकौ०=सम्पत्त्व कौमुदी (बम्बई) ।

सजै०=सानतन जैन धर्म-अनु०=कामताप्रसाद (कलकत्ता) ।

संजैइ०=संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम भाग कामताप्रसाद (सुरत)

सडिजै०=सम डिस्टिन्गुइस्ड जेन्स उमरावसिंह टांक (आगरा)।

संप्राजैस्मा०=संयुक्त प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक-ब्र० शीतल ।

ससाइजै०=स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म प्रो० रामस्वामी
आयंगर ।

ससू०=सम्राट् अकबर और सूरीश्वर-मुनि विद्याविजयजी (आगरा)

सक्षत्राएइ०=सम क्षत्री ट्राइव्स इन एन्शियन्ट इंडिया-डॉ० विम-
लचरण लॉ० ।

साम्स०=साम्स आफ दी ब्रदरेन ।

सुनि०=सुत्तनिपात (S. B. E.) ।

साइजै०=स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म प्रो० रामास्वामी
आयंगर ।

हरि०=हरिवंशपुराण-श्री जिनसेनाचार्य (कलकत्ता) ।

होजै०=होर्टे ऑफ जैनीज्म मिसेज्म स्टीकेसन (कलकत्ता) ।

हिआइ०= } हिस्ट्री ऑफ दी आर्यन रूट इन इंडिया-हैवेक ।
हिआरु०= }

हिगली०=हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्स-डॉ० विमलचरण लॉ० ।

हिटे०=हिन्दू टेक्स-जे० जे० मेयर्स ।

हिद्राव०=हिन्दू ड्रामेटिक वर्कस विजसन् ।

हिप्रोइफि०=हिस्ट्री आफ दी प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी
बारुभा (कलकत्ता) ।

हिलिनै०=हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर ऑफ जनीज्म-बारोदिया (१८०९)

हिवि०=हिन्दी विश्वकोष नागेन्द्रनाथ वसु (कलकत्ता) ।

क्षत्रीकेन्स=क्षत्रीकेन्स इन बुद्धिष्ट इंडिया-डॉ० विमलचरण लॉ० ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

संक्षिप्त जैन इतिहास ।

III

भाग तीसरा—खण्ड पहला ।

(अर्थात् दक्षिण भारतके जैनधर्मका इतिहास)



प्राक्कथन ।

जैनधर्म तात्त्विकरूपमें एक अनादि प्रवाह है, वह सत्य है, एक विज्ञान है । उसका प्राकृत इतिहास वस्तुस्वरूप है । वस्तु सादि नहीं अनादि है, कृत्रिम नहीं अकृत्रिम है, नाशवान नहीं चिरस्थायी है, कूटस्थ नित्य नहीं पर्यायोंका घटनाचक्र है । इसलिये विश्वके निर्माणक पदार्थोंका इतिहास ही जैनधर्मका इतिहास है । और विश्वके निर्माणक पदार्थ तत्त्ववेत्ताओंने जीव और अजीव बताये हैं । चेतन पदार्थ यदि न हो तो विश्व अव्यक्तमय होजाय । उसे जाने और समझे कौन ? और यदि अचेतन पदार्थ न हो तो इस संसारमें जीव रहे किसके आश्रय ? प्रत्यक्ष हमें विश्व और उसके अस्तित्वका ज्ञान है । वह है और अपने अस्तित्वसे जीव और अजीवकी स्थिति सिद्ध कर रहा है । परन्तु यह जीव और अजीव आये कहाँसे ? यदि इन्हें किसी नियत समयपर किसी व्यक्ति—विशेष द्वारा बना हुआ कहा जाय तो यह अखण्ड और अकृत्रिम या अनादि नहीं रहते ।

सण्होंके बने हुये होमेके कारण इन्हें नाशवान भी मानना पड़ेगा । पर अनुभव ऐसा नहीं है । चेतन कभी मरता नहीं देखा गया और न उसका ज्ञान टुकड़ोंमें बटा हुआ अनेकरूप अनुभवमें आया । इसलिये वह अमन्मा है । संसारमें वह अनादिसे अजीबके संसर्गमें पड़ा हुआ संसरण कर रहा है । जीव—अजीबका यह सनातन प्रवाह अवन्तका इतिहास है । उसका प्रत्यक्ष अनुभव पूर्ण ज्ञानी बननेपर होता है । जैन सिद्धान्त ग्रंथोंमें उसका रूपरङ्ग और उपाय वर्णित है । जिज्ञासुगण उनसे अपनी मनस्तुष्टि कर सकते हैं ।

किन्तु धर्म अथवा वस्तुस्वरूपके इस सनातन प्रवाहमें उसका वर्तमान इतिहास जान लेना उपादेय है । वर्तमानमें उसका निरूपण कैसे हुआ ? उसकी समवृद्धि कैसे हुई ? किन किन लोगोंने उसे कैसे अपनाया ? उसके यथार्थ रूपमें षष्ठे कैसे ऋगे ? और उनसे उसके कौन-से विकृत—रूप हुये ? उन विकृत रूपोंके कारण मूल धर्मका कसा हास हुआ ? इत्यादि प्रश्न हैं जिनका उत्तर पाये बिना मनुष्य अपने जीवनको सफल बनानेमें सिद्ध—मनोरथ नहीं हो सकता । इसीलिये मनुष्यके लिये इतिहास—शस्त्रके ज्ञानकी आवश्यकता है । वह मनुष्यके नैतिक उत्थान और पतनका प्रतिबिम्ब है । धर्म और अधर्म, पुण्य और पापके रङ्गमंचका चित्रपट है । उसका बाह्यरूप राज्योंके उत्कर्ष और अपकर्ष, योद्धाओंकी जय और पराजयका द्योतक है; परन्तु यह सब कुछ पुण्य पापका खेल ही है । इसलिये इतिहास वह विज्ञान है जो मनुष्यजीवनको सफल बनानेके लिये नैतिक शिक्षा खुली पुस्तककी तरह प्रदान करता है । वह

मनुष्यमें विवेक, उत्साह और शौर्यको जागृत कर उसे विजयी वीर बनाता है, इसीलिये उसकी आवश्यकता है ।

जैन धर्मका इतिहास उसके अनुयायियोंकी जीवन माथा है; क्योंकि धर्म स्वयं पङ्गु है—वह धर्मात्माओंके आश्रय है । इस बातको लक्ष्य करके पहले जैन इतिहासके तीन खंड लिखे जा चुके हैं । उनके पाठसे पाठकगण जान गये हैं कि धर्मका प्रतिपादन इस कालमें सर्व प्रथम कर्मयुगके आरम्भमें भगवान् ऋषभदेव द्वारा हुआ था ।

भगवान् ऋषभदेवके पहले यहां भोगभूमि थी । यहांके प्राणि-योंको जीवन निर्वाहके लिये किसी प्रकारका परिश्रम नहीं करना होता था । उनका जीवन इतना सरल था कि वह प्राकृतिकरूपमें ही अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर लेते थे । जैन शास्त्र कहते हैं कि 'कल्प-वृक्षों' से उन लोगोंको मनचाहे पदार्थ मिल जाते थे । वह मनमाने भोग भोगते और जीवनका मजा छूटते थे । किन्तु जमाना हमेशा एकसा नहीं रहता । वह दिन बीत गये जब यहां ही स्वर्ग था । लोग उतने पुण्यशाली जन्मे ही नहीं कि स्वर्ग-सुखके अधिकारी इस नरकाममें ही होते । जैन शास्त्र बताते हैं कि जब एक राजा कल्प-वृक्ष नष्ट हो चले, लोगोंको पेटका सवाल हल करनेके लिये बुद्धि और बलका उपयोग करना आवश्यक होगया, परन्तु वे जानते तो थे ही नहीं कि उनका उपयोग कैसे करें ? वे अपनेमें मेधावी पुरु-षोंको खोजने लगे, उन्होंने उनको कुलकर या मनु कहा ।

इन कुलकरोंने, जो कुल चौदह थे, लोगोंको जीवननिर्वाह

करनेकी प्रारम्भिक शिक्षा दी ।^१ बारहवें कुलकरका नाम मरुदेव था । उन्होंने नाविक शिक्षाके साथ २ लोगोंको दाम्पत्यजीवनका महत्व हृदयङ्गम कराया ।^२ उन्हींके समयसे कहना चाहिये कि कर्म-शील नर-नारियोंने घरगिरस्ती बनाकर रहना सीखा । शायद यही कारण है कि वैदिक साहित्यमें भारतके आदि निवासी 'मरुदेव' भी कहे गये हैं । अंतिम कुलकर नाभिराय थे जिनकी रानी मरुदेवी थीं । इन्हीं दम्पतिके सुपुत्र भगवान ऋषभदेव थे ।

भगवान ऋषभदेवने ही लोगोंको ठीकसे सभ्य जीवन व्यतीत करना सिखाया था । उनके पूर्वोपार्जित शुभ कर्मोंका ही यह सुफल था कि स्वयं इन्द्रने आकर उनके सभ्यता और संस्कृतिके प्रसारमें सहयोग प्रदान किया था । कुटुंबोंको उनकी कार्यक्षमताके अनुसार उन्होंने तीन वर्गोंमें विभक्त कर दिया था, जो क्षत्री, वैश्य और शूद्रवर्ण कहलाते थे । जब धर्मतीर्थकी स्थापना होचुकी तब ज्ञान-प्रसारके लिये ब्राह्मणवर्ग भी स्थापित हुआ । इसतरह कुल चार वर्णोंमें समाज विभक्त करदी गई; किन्तु उसका यह विभाजन मात्र राष्ट्रीय सुविधा और उत्थानके लिये था । उसका आधार कोई मौलिक भेद न था । उस समय तो सब ही मनुष्य एक जैसे थे । नैतिक व अन्य शिक्षा मिलनेपर जैसी जिसमें योग्यता और क्षमता-दृष्टि पड़ी वैसा ही उसका वर्ण स्थापित कर दिया गया; यद्यपि सामाजिक सम्बन्ध-विवाह शादी करनेके लिये सब स्वाधीन थे । दक्षिण भारतमें भी इस व्यवस्थाका प्रचार था, क्योंकि वहाँके साहि-

त्वसे भी इन्हीं चार वर्णोंका पता चलता है और इनके जीवननिर्वाहके लिये ठीक वही आजीविकाके छह उपाय बताये गये हैं जो उत्तर भारतमें मिलते हैं ।^१

जैन शास्त्रोंमें उत्तर और दक्षिण भारतके मनुष्योंमें कोई भेद नजर नहीं पड़ता । इससे मालूम होता है कि उनमें उस समयका वर्णन है, जब कि सारे भारतमें एक ही सभ्यता और संस्कृति थी । उस समय वैदिक आर्योंका उनको पता नहीं था । प्राचीन शोध भी हमें इसी दिशाकी ओर लेजाती है । हरप्पा और मोहनजोदरोकी ईस्वीसे पांचहजार वर्षों पहलेकी सभ्यता और संस्कृति वैदिक धर्मानुयायी आर्योंकी नहीं थी, यद्यपि उसका सादृश्य और साम्य द्राविड़ सभ्यता और संस्कृतिसे था, यह आज विद्वानोंके निकट एक मान्य विषय है ।^२ साथ ही यह भी प्रकट है कि एक समय द्राविड़ सभ्यता उत्तर भारत तक विस्तृत थी । सारांशतः यह कहा जासکتा है कि वैदिक आर्योंके पहले सारे भारतवर्षमें एक ही सभ्यता और संस्कृतिको माननेवाले लोग रहते थे । यही वजह है कि जैनशास्त्रोंमें उत्तर और दक्षिणके भारतीयोंमें कोई भेद दृष्टि नहीं पड़ता !

१-‘थोलकाप्पियम्’ जैसे प्राचीन ग्रंथसे यही प्रगट है । वर्णोंके नाम (१) अरसर अर्थात् क्षत्री, (२) अनयेनर अर्थात् ब्राह्मण, (३) वणिकर, (४) विह्वाळर (कृषक) क्षत्रीवर्ण जैन ग्रन्थोंकी भांति पहले बिना गया है । २-माश्रक, मोद० भा० १ पृ० १०९-१११
 “ a comparison of the Indus and Vedic Cultures shows incontestably that they were unrelated.”
 (p. 110).

किन्तु प्रश्न यह है कि वैदिक आर्योंसे पहले जो लोग भारतमें रहते थे वह कौन थे ? यदि हम मेजर जेनरल फरलॉग सा० के अभिमतको मान्य ठहरायें तो इस प्रश्नका उत्तर यह होगा कि वे द्राविड़ और जैनी थे । और सब ही मरुदेव या नाभिराय कुलकरकी सन्तान थे ।^१ उनकी एक सभ्यता थी, एक संस्कृति थी और एक धर्म था, जैसा कि कुलकरों और आदिब्रह्मा ऋषभदेवने निरधारित किया था । परन्तु इस प्रश्नपर जरा अधिक गहरा विचार वाञ्छनीय है—मनस्तुष्टि गंभीर गवेषणासे भली होती है ।

निस्सन्देह यह स्पष्ट है कि भारतके आदि निवासी वैदिक मात्स्यताके आर्य नहीं थे । उनके अतिरिक्त भारतमें दो प्रकारके मनुष्योंके रहनेका पता चलता है । उनमेंसे एक सभ्य थे और दूसरे विष्कुल असभ्य थे । पहले लोगोंका प्राचीन साहित्यमें नाग, असुर, द्राविड़ आदि नामोंसे उल्लेख हुआ मिलता है और दूसरे प्रकारके असभ्य लोग 'दास' कहे गये हैं ।^२ किन्हीं लोगोंका अनुमान है कि इन्हीं 'दास' लोगोंमेंसे शूद्र वर्णके लोग थे । सभ्य लोग

१. फरलॉग सा० लिखते हैं कि "अनुमानतः ई० पूर्व १५०० से ८०० बल्कि अगणित समयसे पश्चिमीय तथा उत्तरीय भारत तूगानी या द्राविड़ों द्वारा शासित था ।....उसी समय उत्तरीय भारतमें एक पुराना, सभ्य, सैद्धान्तिक और विशेषतः साधुओंका धर्म अर्थात् जैन धर्म भी विद्यमान था । इसी धर्मसे ब्राह्मण और बौद्ध धर्मोंके सन्यास शास्त्रोंने विकास पाया ।"—Short studies in the Science of Comparative Religions, (pp. 243-4)

२. अइं, पृ० भू० ३ अ १-६४

मुख्यतया असुर नामसे ही विख्यात थे । अब जरी देखिये, वैदिक साहित्यमें इन असुर लोगोंकी यह खास विशेषतायें वर्णित हैं:—

(१) असुर लोग 'प्रजापति' की सन्तान थे और उनकी तुलना वैदिक देवताओंके समान थी ।

(२) असुर लोगोंकी भाषा संस्कृत नहीं थी । पाणिनिने उन्हें व्याकरणके ज्ञानसे हीन बताया है । ऋग्वेद (७।१८-१३) में उन्हें 'विरोधी भाषा-भाषी' (of hostile speech) और वैदिक आर्योंका शत्रु (१।१७४-२) कहा है ।

(३) असुर ध्वजचिह्न सर्प और गरुड़ थे ।

(४) असुर क्षात्रधर्म प्रधान थे ।

(५) असुर लोग ज्योतिष विद्यामें निष्णात थे । (ऋग्वेद १।२८।८)

(६) माया या जादू (magic) असुरका गुण था ।
(ऋग्वेद १।१६०-२३)

असुर लोगोंकी यह विशेषतायें आज भी जैनियोंके लिये अनूठी हैं । जैन शास्त्रोंमें आदिव्रह्मा ऋषभदेव 'प्रजापति' भी कहे गये हैं ।^१ आजके जैनी उनकी सन्तान हैं और वे भी अन्य हिन्दुओंकी तरह आर्य ही हैं । जैनियोंकी भाषा संस्कृतसे स्थानपर प्राकृत रही है; जिसका व्याकरण अथवा साहित्यकरूप संस्कृतसे शायद अर्वाचीन है । प्राकृत संस्कृतसे भिन्न ही है । इसलिये जैनियों और असुरोंकी भाषा भी सदृश प्रगट होती है । असुर चिह्न सर्प

जैनोमें विशेष रूढ़ है । एकसे अधिक जैन तीर्थङ्करों और शासन देवताओंसे उसका सम्बन्ध है । हां, गरुड़का चिह्न जैनोमें उतना प्रचलित नहीं है । जैनोके सब ही तीर्थङ्कर क्षत्री थे और उनकी शिक्षा प्रत्येक मनुष्यको क्षात्र धर्मका अनुयायी बना देती है ।

जैनियोंका आध्यात्मिक क्षात्रधर्म अनूठा है । ब्राह्मणों और बौद्धोंने जैनियोंको ज्योतिष विद्यामें निष्णात लिखा है^१ और प्राचीन भारतमें जैन मान्यतानुसार ही कालगणना प्रचलित थी ।^२ इन विधर्मियोंने जैन तीर्थङ्करोंकी बाह्य विभूति देखकर उन्हें इन्द्रजालिया (जादूगर) आदि कहा है ।^३ इस प्रकार असुर लोगोंकी खास विशेषतायें जैनोमें मिलती हैं । उसपर उपरान्त असुर लोगोद्वारा अथर्ववेदकी मान्यताका उल्लेख है, जिसे ऋषि अङ्गरिसने रचा था । यह ऋषि अङ्गरिस स्वयं एक समय जैन मुनि थे ।^४ इस साक्षीसे भी असुरोंका जैनधर्मसे सम्बंधित होना प्रगट है । अन्ततः वैदिक पुराण ग्रन्थोंके निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि असुर भी एक समय जैनधर्मानुयायी थे:—

(१) 'विष्णुपुराण' (अ० १७-१८) में एक कथा है जिसका संक्षेप इसप्रकार है कि एक समय देवता और असुरोंमें

१. पञ्चतंत्र (५।१) प्रबोध चन्द्रोदय नाटक, न्यायविन्दु अ० ३ आदि० । न्यायविन्दुमें लिखा है: “यथा: सर्वज्ञ आसौ वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् । यथा ऋषभवधमानादिरिति ।”

२. अलवेरुनीका भारत वर्ष देखो—उसने कालगणनामें अब-सर्पिणीका उल्लेख किया है ।

३. बृहत्स्वयंभूस्तोत्रादि ।

४. “दिजै”—विशेषांक....

बड़ा भारी युद्ध हुआ तब देवता हार गये और असुर जीत गये । हारे हुये देवगण विष्णु भगवानकी शरणमें आये और बहुत स्तुति करके कहा कि महाराज, कुछ ऐसा उपाय कीजिये जिससे हम असुरोंपर विजय प्राप्त कर सकें । विष्णु भगवानने यह सुनकर अपने शरीरसे एक मायामोह नामका पुरुष उत्पन्न किया । वह दिगम्बर घुटे सिरवाला और मोर पिच्छिवारी था ।

इस मायामोहको विष्णुने उन देवोंको देकर कहा कि यह मायामोह अपनी माया (जादू) से असुरों या दैत्योंको धर्म-अष्ट कर देगा और तब तुम विजयी होगे । मायामोह देवोंके साथ असुरोंके पास पहुंचा और उन्हें बहुत तरह समझाकर बताया कि आर्हत (जैन) धर्म ही श्रेष्ठ है—इसे धारण करो । असुरोंने मायामोहका उपदेश स्वीकार किया और वे धर्मअष्ट होगये । तब देवोंने उन्हें जल्दी ही परास्त कर डाला । इस कथामें वर्णित मायामोह एक दिगम्बर जैन मुनि हैं और उन्हें मायाजाली (जादूगर) बताया

१. इत्युक्तो भगवांस्तेभ्यो मायामोहं शरीरतः ।

समुत्पाद्य ददौ विष्णुः प्राह चेदं सुरोत्तमान् ॥ ४१ ॥

मायामोहोयमखिलान् दैत्यांस्तान् मोहयिष्यति ।

ततो वध्या भविष्यन्ति वेदमार्गमहिष्कृताः ॥ ४२ ॥

स्थितौ स्थितस्य मे वध्या पावन्तः परिपन्थिनः ।

ब्रह्मणो येऽधिकारस्था देवदैत्यादिकाः सुराः ॥ ४३ ॥

तद्गच्छत नभीक्ष्ण्यं महामोहोऽयमप्रतः ।

गच्छत्वद्योपकाराय भवतां भविता सुराः ॥ ४४ ॥ इत्यादि ।

विष्णुपुराण अ० १८

है । उनका धर्म स्पष्ट रूपसे आर्हत मत (जैन धर्म) कहा गया है । नर्मदातटपर बसनेवाले असुरोंको उन्होंने जैनधर्म-रत बनाया था । असुरोंकी पूर्वोल्लिखित विशेषतायें इन जैनी असुरोंमें मिल जाती हैं ।

(२) एक ऐसी ही कथा हिन्दु 'पद्मपुराण' (प्रथम सृष्टि खंड १३ पृ० ३३) पर अंकित है और उसमें भी मायामोह जो दिगम्बर मुंडे सिर और मोर पिच्छिकाधारी योगी (योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपत्रधरोक्षयं) था, उसके द्वारा असुरोंका जैनधर्म रत होना लिखा है ।^१

(३) 'देवी भागवत' (चतुर्थ स्कंध अध्याय १३) में कथन है कि शुक्राचार्य अपने असुर-दैत्यादि यजमानोंको देखने गये तो क्या देखते हैं कि छलवेषधारी बृहस्पतिजी उन असुरोंको जैन धर्मका उपदेश देते हैं ।^२ वह असुरोंको 'देवोंका वैरी' कहकर सम्बोधन करते हैं, जैसे कि ऋग्वेदमें असुरोंको कहा गया है ।

१. बृहस्पतिसाहाय्यार्थं विष्णुना मायामोहसमुत्पादनम् दिगम्बरेण मायामोहेन दैत्यान् प्रति जैनधर्मोपदेशः दानवानां मायामोह-मोहितानां गुरुणा दिगम्बरजैनधर्मदीक्षादानम् ।' (पद्मपुराण-वैकटे-श्वर प्रेस बम्बई पृ० २) इस पुराणमें दैत्य, दानव और असुर शब्द समवाची अर्थमें व्यवहृत हुये हैं, क्योंकि अंतमें लिखा है 'त्रयीधर्म-समुत्सृज्य मायामोहेन तेऽसुराः ।'

२. 'छन्नरूपधरं सौम्यं बोधयंतं छलेन तान् ।

जैनधर्मं कृतं स्वेन यज्ञनिदा परं तथा ॥ ९४ ॥

भो देवरिपवः सत्यं ब्रवीमि भवतां हितम् ।

अहिंसा परमो धर्मोऽहंतव्याघाततायिनः ॥ ९५ ॥ इत्यादि ।

(४) ' मत्स्यपुराण ' (अ० २४) में भी देवासुर युद्धका प्रसंग आया है और उसमें भी उनमें जैन धर्मका प्रचार होना वर्णित है ।^१

इन उद्धरणोंसे सिद्ध है कि भारतके प्राचीन निवासी असुर लोगोंमें जैनधर्मका प्रचार रहा है । वे देवासुर संग्रामके समय जैनी थे । इसलिये वैदिक आर्योंकी सभ्यता और संस्कृतिसे पृथक् और प्राचीन जो सभ्यता और संस्कृति सिन्धु उपत्यकामें मिलती है वह जैन धर्मानुयायी असुर लोगोंकी कही जासकती है और उसका सादृश्य द्राविड़ सभ्यतासे है । इसलिये उन दोनोंको एक मानना अनुचित नहीं है । जैन ग्रन्थोंसे एक अखिल भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका ही पता चलता है ।

मोहनजोदरोकी मुद्राओंपर विद्वानोंने ऐसी मूर्तियां और वाक्य पढ़े हैं जिनका सम्बन्ध जैन धर्मसे है । एक मुद्रापर ' जिनेश्वर ' शब्द लिखा हुआ पढ़ा गया है ।^२ मुद्राओंपर अङ्कित मूर्तियां योगनिष्ठ कायोत्सर्ग मुद्रावाली नम हैं, जैसी कि जैन मूर्तियां होती हैं ।^३ एक पद्मासन मूर्ति तो ठीक भगवान पार्श्वनाथकी सर्पफणमण्डल युक्त प्रतिमाके अनुरूप है ।^४ उनकी नासाग्र दृष्टि, कायोत्सर्ग मुद्रा और वृषभादि चिह्न ठीक जिन मूर्तियोंके समान हैं । यह समानता भी उन मूर्तियोंको जैन धर्मानुयायी पुरुषोंद्वारा निर्मित प्रगट करती हैं ।

१. पुरातत्त्व, भा० ४ पृ० १७६

२. इहिका० भा० ८ परिशिष्ट पृ० ३०

३. Modern Review, August 1932, pp. 155-160

४. मोद०, भा० १ पृ० ६० Plate XIII, 15, 16.

उपर जैन शास्त्रोंसे यह प्रगट ही है कि उत्तर भारतकी तरह दक्षिण भारतके देशोंमें भी सर्व प्रथम भ० ऋषभदेव द्वारा ही सम्यता और संस्कृतिका प्रचार हुआ था । जब वह समूचे देशकी व्यवस्था करने लगे थे, तब इन्द्रने सारे देशको निम्नलिखित ५२ प्रदेशोंमें विभक्त किया था:—

“सुकौशल, अवन्ती, पुंड्र, उंड्र, अश्मकरम्यक, कुरु, काशी, कर्लिग, अंग, बंग, सुह्य, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आंध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरळ, दारु, अभिसार, सौवीर, सूरसेन, अपरांत, विदेह, सिंधु, गांधार, यवन, चेदि, पल्लव, कांबोज, आरट्ट, बाल्हीक, तुरुष्क, शक, और केकय ।”^१

१. “ देशाः सुकोशलावंतीपुंड्रोडाश्मकरम्यकाः ।

कुरुकाशीकर्लिगांगबंगसुह्याः समुद्रकाः ॥ १९२ ॥

काश्मीरोशीनरानर्तवत्सपंचालमालवाः ।

दशार्णाः कच्छमगधा विदर्भा कुरुजांगलं ॥ १९३ ॥

करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोंकणाः ।

वनवासांध्रकर्णाटकोशलाश्चोलकेरलाः ॥ १९४ ॥

दार्वाभिसारसौवीरसूरसेनापरांतकाः ।

विदेहसिंधुगांधारयवनाश्चेदिपल्लवाः ॥ १९५ ॥

कांबोजारट्टबाल्हीकतुरुष्कशककेकयाः ।

निवेशितास्तथान्येपि विभक्ता विषयास्तदा” ॥ १९६ ॥

आदिपुराण पर्व १६ ।

इनमें अश्मक, रम्यक, करहाट, महाराष्ट्र, आमीर, कोंकण, बनवास, आंध्र, कर्णाट, चोल, केरल आदि देश दक्षिण भारतमें मिलते हैं । इससे स्पष्ट है कि भ० ऋषभदेव द्वारा इन देशोंका अस्तित्व और संस्कार हुआ था । अतः दक्षिण भारतमें जैन धर्मका इतिहास उस ही समय अर्थात् कर्मभूमिकी आदिसे ही प्रारंभ होता है । इस अपेक्षा हमें उसे दो भागोंमें विभक्त करना उचित प्रतीत होता है; अर्थात्:-

(१) पौराणिक काल:- इस अन्तरालमें भगवान् ऋषभदेवसे २१ वें तीर्थंकर भ० नमिनाथ तकका संक्षिप्त इतिहास समाविष्ट होजाता है ।

(२) ऐतिहासिक काल:- इस अन्तरालमें उपरान्तके तीर्थंकरों और आजतक हुये महापुरुषोंका इतिहास गर्भित होता है । यह अन्तराल निम्न प्रकार तीन भागोंमें बांटना उपयुक्त है । अर्थात्:-

(१) प्राचीनकाल (ई० पूर्व ५००० से ई० पूर्व १)

(२) मध्यकाल (सन् १ से १३०० ई०)

(३) अर्वाचीनकाल (उपरान्त)

आगेके पृष्ठोंमें इसी उपर्युक्त क्रमसे दक्षिण भारतके जैन इतिहासका वर्णन करनेका उद्योग किया गया है । पहले ही 'पौराणिक काल' का विवरण पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है ।

सं० जैन इ० भाग ३ खंड १.

पौराणिक काल ।

दक्षिण भारता इतिहास ।

पौराणिक काल ।

(“ भ० ऋषभदेव और सम्राट् भरत ”)



भगवान् ऋषभदेव अथवा वृषभदेव जैन धर्ममें माने गये इस अवसर्पिणीकालके पहले तीर्थङ्कर थे । जैन धर्ममें तीर्थङ्करसे भाव उस महापुरुषसे है जो इस संसार-समुद्रसे पार उतारनेके लिये और मोक्षस्थानको प्राप्त होनेके लिये एक धर्म—तीर्थकी स्थापना करते हैं । ऋषभदेव एक ऐसे ही तीर्थङ्कर थे । पर साथ ही उनको ‘कुलकर’ या ‘मनु’ भी कहा गया है । वह इसलिये कि उन्होंने ही वस्तुतः मनुष्यको सभ्य और संस्कृत जीवन व्यतीत करना सिखाया था । यह पहले लिखा जा चुका है कि भगवान् ऋषभदेव अन्तिम कुलकर नाभिराय और उनकी रानी मरुदेवीके सुपुत्र थे । हिन्दू पुराण ग्रन्थोंमें उनकी गणना अवतारोंमें की गई है और उन्हें आठवां अवतार कहा गया है ।

भगवान्का जन्म चैत्र कृष्ण ९ को अयोध्यामें हुआ था और उनका जन्म—महोत्सव खूब धूमधामसे मनाया गया था । वह धर्मके प्रथम उपदेष्टा थे, इसलिये उनका नाम ‘श्री वृषभनाथ’ रक्खा गया था । जिस समय वह रानी मरुदेवीके गर्भमें थे, उस समय उनकी माने सोलह शुभ स्वप्न देखे थे, जिनके अंतमें एक सुन्दर बैल था । संस्कृतमें बैलको ‘वृषभ’ कहते हैं और मल्ल-कृत भाषामें वह धर्मतत्त्वके लिये व्यवहृत हुआ है ।^१ इसलिये ही

१—भम० पृ० १२-४७: दी परमानेन्ट हिस्ट्री ऑफ इंडिया देखो ।

भगवानका ध्वजचिन्ह भी 'वृषभ' (Bull) था । भगवान ऋषभ-देवकी जो मूर्तियां मिलती हैं उनमें यह बैलका चिह्न मिलता है ।^१

भगवान ऋषभदेव स्वयं ज्ञानी थे । मानवोंमें सर्वश्रेष्ठ थे । उनकी युवावस्थाकी चेष्टायें परोपकारके लिये होती थीं । उनसे जनताका वास्तविक हित सघा था । वे स्वयं गणित, छंद, अलंकार, व्याकरण, लेखन, चित्रलिपि आदि विद्याओं और कलाओंके ज्ञाता थे और उन्होंने ही सबसे पहले इनका ज्ञान लोगोंको कराया था । पूर्ण युवा होनेपर उनका विवाह कच्छ महाकच्छ नामक दो राजाओंकी परम सुंदरी और विदुषी नंदा और सुनंदा नामक दो राजकुमारियोंके साथ हुआ था ।

रानी सुनन्दाके समस्त भरतक्षेत्रका पहला सम्राट् भरत चक्रवर्ती नामका पुत्र और ब्राह्मी नामकी कन्या हुई थी । ऋषभदेवने ब्राह्मीको ही पहले पहले लेखनकलाकी शिक्षा दी थी । इसीलिये भारतीय आदि लिपि 'ब्राह्मी लिपि' कहलाती है । दूसरी रानी सुनन्दाके महाबलवान बाहुबलि और परमसुंदरी सुन्दरी नामकी कन्या हुई थी । भरतके वृषभसेन आदि अष्टानवे भाई और थे । इन सब पुत्रोंको विविध प्रदेशोंमें राजप्रतिष्ठ करके ऋषभदेव निश्चित हुये थे । यह हम पहले लिख चुके हैं कि प्रजाकी आदि व्यवस्था

१. मोहनजोदरोकी मुद्राओंपर कतिपय कायोत्सर्ग मुद्राकी नग्न मूर्तियां अंकित हैं जिनपर बैलका चिह्न भी है । रा० ४० रामप्रसाद चन्दा महाशय उन्हें भ० ऋषभदेवकी मूर्तिके समान प्रगट करते हैं । भ० ऋषभदेवने कायोत्सर्ग मुद्रामें तपश्चरण किया था । (Modern Review, Aug: 1932, p. 159.)

भ० ऋषभदेव द्वारा ही हुई थी । भरत युवराज थे और ऋषभदेवके मुनि होजाने पर राज्याधिकारी हुये थे । उनके भाइयोंमेंसे कतिपयका राज्य दक्षिण भारतके निम्न लिखित प्रदेशोंमें था:—

अश्मक, मूलक, कर्लिंग, कुंतल, महिषक, नवराष्ट्र, भोगवर्द्धन इत्यादि ।

भगवान् ऋषभदेव और उनकी सन्तान 'इक्ष्वाकु क्षत्रिय' कहलाते थे । यही इक्ष्वाकुवंश उपरान्त 'सूर्य' और 'चन्द्र' वंशोंमें विभक्त होगया था । सम्राट् भरतने सभ्यता और संस्कृतिके प्रसारके लिये छहों खंड पृथ्वीकी दिग्विजय की थी । उन्हींके नामकी अपेक्षा यह देश 'भारतवर्ष' कहा जाता है । भारतके उत्तर और दक्षिण भागोंका एक ही नाम होना इस बातका प्रमाण है कि समूचा देश भरत महाराजके अधिकारमें था । सारे भारतका तब एक ही राजा, एक ही धर्म और एक ही सभ्यता थी ।

नृत्यकारिणी नीलांजसाको नृत्य करते करते ही विलीयमान होता देखकर ऋषभदेवको वैराग्य उत्पन्न हुआ । चैत्र वदी नवमीके दिन भगवान् दिगम्बर मुनि हो तपश्चरण करने लगे । उनके साथ चार हजार अन्य राजा भी मुनि होगए । परन्तु कठिन मुनिचर्याको वह निभा न सके । इसलिये मुनिपदसे अष्ट होकर वे नाना पाखण्डोंके प्रतिपादक हुये । इनमें भ० ऋषभदेवका पौत्र मरीचि प्रधान था उसने सांख्य मतके सदृश एक धर्मकी नींव डाली थी ।

आखिर भ० ऋषभदेव सर्वज्ञ परमात्मा हुये और तब उन्होंने सारे देशमें विहार करके लोकका महान् कल्याण किया था । यह

इस कालमें आदि धर्म-देशना थी । भगवानने काशी, अवन्ती, कुरुजांगल, कोशल, सुक्ष, पुंड्र, चेदि, अंग, बंग, मगध, अंध्र, कलिंग, भद्र, पंचाल, मालव, दशार्ण, विदर्भ आदि देशोंमें विहार किया था । लोगोंको सन्मार्गपर लगाया था । अन्ततः कैलास पर्वत पर जाकर भगवान बिराजमान हुये थे और वहींसे माघ कृष्ण चतुर्दशीको भगवान निर्वाणपदके अधिकारी हुये । भरत महाराजने उनके स्मारकमें वहां उनकी स्वर्ण-प्रतिमा निर्मित कराई थी । *

दक्षिण भारतके प्रथम सम्राट् बाहुबलि ।

भगवान ऋषभदेवके दूसरे पुत्र बाहुबलि थे । यह महा बलवान और अति सुंदर थे । इसीलिये इनको पहला कामदेव कहा गया है । भगवान ऋषभदेवने बाहुबलिको अश्मक-रम्यक अथवा सुरम्य देशका शासक नियुक्त किया था और वह पोदनपुरसे प्रजाका पालन करते थे । अपने समयके अनुपम सुन्दर और श्रेष्ठ शासकको पाकर उनकी प्रजा अतीव संतुष्ट हुई थी । यही वजह है कि आज भी उनकी पवित्र स्मृति लोगोंके हृदयोंमें सजीव है ।

दक्षिण भारतके लोग उन्हें 'गोमट्ट' अर्थात् 'कामदेव' नामसे स्मरण करते हैं और निस्सन्देह वह कामदेव थे । परन्तु कामदेव होते हुये भी बाहुबलि नीति और मर्यादा धर्मके आदर्श थे । साथ ही उनकी मनोवृत्ति स्वाधीन और न्यायानुमोदित थी । वह अन्यायके प्रतिकार और कर्तव्य पालनके लिये मोह ममता और कायरतासे

* विशेषके लिये आदिपुराण व संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम भाग देखो ।

परे रहते थे । 'स्वार्थ' नहीं—'कर्तव्य' उनका मार्गदर्शक था । इसी-
लिये वह एक आदर्श सम्राट् और महान योगीके रूपमें प्रसिद्ध हुए ।

'चक्रवर्ती'—पदको सार्थक बनानेके लिये अपने और पराये
सब ही शासकोंको एकदफा नतमस्तक बना देना धार्य राजनीतिका
तकाजा रहा है । सम्राट् भरतको चक्रवर्ती होना था । उन्होंने षट्-
खण्ड पृथ्वी जीत ली थी । परन्तु उनके भाई अभी बाकी थे ।
सम्राट्ने चाहा कि उनके भाई केवल उनकी आन मान लें । पर वे
सब स्वाधीन वृत्तिके क्षत्री थे । उन्होंने भाईके स्वार्थ और ऐश्वर्य-
मदको विवेक नेत्रसे देखा और सोचा—“यह पृथ्वी पिताजीने हमें
दी है । हमारे बड़े भाई उसपर अपना अधिकार चाहते हैं । हम
इससे मोह क्यों करें ? पिताजी इसे छोड़ गये । चलो, हम भी इसे
त्याग दें ।” उन्होंने जैसा सोचा वैसा कर दिखाया । वे सब
तीर्थङ्कर ऋषभदेवके चरणतलमें जाकर मुनि होगये ।

भरतके भाइयोंमें बाहुबलि बाकी रहे । भरत महाराजने मंत्रि-
योंकी सम्मतिको आदर देकर अपना दूत उनके पास भेजा । दूतने
बहुतसी उतार चढावकी बातें कहीं; परन्तु बाहुबलिपर उनका कुछ
भी असर नहीं हुआ । उन्होंने दूतके द्वारा भरत महाराजको रणाङ्ग-
णमें आनेके लिये निमंत्रण भिजवा दिया । सम्राट् भरत पहलेसे
ही इस अवसरकी प्रतीक्षामें थे । उन्होंने अपनी चतुरंगणी सेना
सजाई और वह लावलङ्कर लेकर पोदनपुरके लिये चल दिये ।

उधर बाहुबलिकी सेना भी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित हो रणक्षेत्रमें
आदटी । दोनों सेनायें आमने-सामने युद्धके लिए तैयार थीं । दो

नरपुंगवोंकी जवान हिलाने भरकी देर थी कि लाखों नरमुंड धरातल पर लोटते दिखाई देते । परन्तु दोनों शासकोंके राजमंत्रियोंका विवेक जागृत हुआ । उन्होंने देखा, यह निरर्थक हिंसा है—अनर्थदण्ड है । इसे क्यों न रोका जाय ? दोनोंने नरशार्दूलोंको समझाया । निरपराध मनुष्योंकी अमूल्य जानें क्यों जाँयें ? स्वयं भरत और बाहुबलि ही अपने बल-पौरुषकी परीक्षा करलें । यही निश्चित हुआ । मलयुद्ध—नेत्रयुद्ध आदि कई प्रकारके युद्धोंमें दोनों वीरोंने अपने भाग्योंकी परीक्षा की; परन्तु बाहुबलिका पौरुष महान था । भरत उनको न पा पाये । वह खिसिया गये ।

अपमानके परितापसे वह ऐसे क्षोभित हुए कि उन्होंने अपने भाई पर ही चक्र चला दिया; किन्तु सगोत्री होनेके कारण चक्र भी बाहुबलिका कुछ न बिगाड़ सका । हाँ, भरतकी यह स्वार्थपरता देखकर उनके हृदयको गहरी चोट पहुँची । उनको राज-पाट हेय जँचने लगा । उन्होंने मनुष्यकी माया-ममताको धिक्कारा और वस्त्रा-भूषण त्याग कर दिगम्बर मुनि होगए । भरत नतमस्तक होकर अयोध्या लौट आये । पोदनपुरमें बाहुबलिका पुत्र राज्यशासन करने लगा और उन्हींकी सन्ततिका वहाँ अधिकार रहा ।

पोदनपुरमें रहकर बाहुबलिने घोर तपश्चरण किया । वह कायो-त्सर्ग मुद्रामें शान्त और गंभीर बने हुए एक सालतक लगातार ध्यानमग्न रहे । चींटियोंने उनके पांवोंके सहारे बांबियां बनालीं, कतायें उनके शरीर पर चढ़ गईं; परन्तु उनको ज़रा भी ख़याल न हुआ । उधर भरतमहाराजको भी भाईके दर्शन करनेकी अभिलाषा

हुई । वह पोदनपुर गये । उन्होंने बड़े प्रेमसे राजर्षि बाहुबलिकी वन्दना की । बाहुबलि निराकुल हुए । उन्होंने अपने ध्यानको और भी विशुद्ध बनाया और घातिया कर्मोंका नाश कर दिया । वह केवल-ज्ञानी होगए । देवोंने उत्सव मनाया । भरतमहाराजने उनके केवल-ज्ञानकी पूजा की । बाहुबलिने चातक श्रोताओंको धर्माभूत पान कराया । और वह सारे देशमें विहार करने लगे । भरतमहाराजने उनकी पवित्र स्मृतिमें पोदनपुरमें एक स्वर्णमूर्ति उन्हींके आकारकी स्थापित कराई; जो वहाँ एक लम्बे समय तक विद्यमान रही ।

विहार करते हुए राजर्षि बाहुबलि कैलाश पर्वतपर पहुँचे और वहाँपर उन्होंने पूर्ण ध्यानका आश्रय लिया, जिसके परिणाम स्वरूप वह निर्वाणके अधिकारी हुए ।

विद्वानोंका अनुमान है कि बाहुबलि ही दक्षिणभारतके पहले सम्राट् धर्माभूत वर्षा करके मोक्षलाभ करनेवाले पहले मनुष्य थे ।^१ हमारे विचारसे यह मान्यता है भी ठीक; क्योंकि बाहुबलिका राज्यप्रदेश अश्नकरम्यक और पोदनपुर दक्षिणभारतमें ही अवस्थित प्रमाणित होते हैं । यद्यपि कोई २ विद्वान् पोदनपुरको भारतकी पश्चिमोत्तर सीमामें अवस्थित और प्रायः तक्षशिला ही अनुमान करते हैं; परन्तु उनकी यह मान्यता युक्तिपुरस्सर नहीं है । निम्न पंक्तियोंमें पाठकगण पोदनपुरको प्राचीन दक्षिणापथमें अवस्थित सिद्ध हुआ पढ़ेंगे ।

जैन संघमें पोदनपुरका कथन अनेक स्थलोंपर आया है और

१-पद्मपुराण चतुर्थ पर्व श्लो० ६७-७७.

उनका उल्लेख आगेके पृष्ठोंमें पाठकगण यथास्थान पढ़ेंगे । सबसे पहले इसका उल्लेख बाहुबलिजीके सम्बन्धमें हुआ मिलता है । 'महापुराण' में लिखा है कि भरतके दूतने पोदनपुरको शालिचावल और गन्नेके खेतोंसे लहलहाता पाया था और वह 'संख्यात' दिनोंमें ही वहां पहुंच गया था । 'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि दूत अयोध्यासे पश्चिम दिशाको चलकर पोदनपुर पहुंचा था ।^२

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि पोदनपुर अयोध्यासे बहुत ज्यादा दूर नहीं था और न वह अयोध्यासे उत्तर दिशामें था; जैसे कि तक्षशिला होनी चाहिये । उसके आसपास शालिचावल और गन्ना होते थे । तक्षशिलामें यह चीजें शायद ही मिलती हों । साथ ही तक्षशिलामें एक बृहत्काय बाहुबलि मूर्तिके अस्तित्वका पता नहीं चलता, जोकि पोदनपुरका खास स्मारक था ।

बाहुबलिके अतिरिक्त पोदनपुरका खास उल्लेख भगवान पार्श्वनाथके पूर्वभव चरित्रमें मिलता है । भगवान पार्श्वनाथ अपने पहले भवमें पोदनपुरके राजा अरविन्दके पुरोहित विश्वभूतिके सुपुत्र मरुभूति थे । उनके भाई कमठ थे । कमठ दुष्ट प्रकृतिका मनुष्य था । उसने मरुभूतिकी स्त्रीसे व्यभिचार सेवन किया; जिसका दण्ड उसे देशनिकाला मिला ।

१-‘शालिवेष्टु’-‘शालीक्षुभीरकक्षेत्रैर्वृतः’ (३५ पर्व)

“क्रमेण देशान् सिंघुश्च देशसर्वीश्च सोऽतियन् ।

प्रापत् संख्यातरात्रैस्तत्पुरं पोदनाह्वयम् ॥”

२-हरिवंशपुराण, सर्ग ११ श्लोक ७९ ।

वह पोदनपुरसे चलकर भूताचल पर्वतपर एक तापसाश्रममें कुतप तपने लगा । मरुभूति मरकर मलयपर्वतके कुब्जकसल्लकी वनमें हाथी हुआ । वह वहां वेगवती नदीके किनारेपर रहता था । 'उत्तर-पुराण' में स्पष्ट शब्दोंमें पोदनपुरको दक्षिणभारतके सुरम्भदेशमें अवस्थित लिखा है ।^१ श्री वादिराजसुरिने भी पोदनपुरको सुरम्भदेशमें शालिचाबलोंके खेतोंसे भरपूर लिखा है ।^२ वहांसे भूताचल पर्वत अधिक दूर नहीं था । श्रीजिनसेनाचार्यने भूताचलके स्थानपर रामगिरि पर्वत लिखा है ।^३ अब यह देखना चाहिये कि पोदनपुरके निकटवर्ती उपरोक्त स्थान कहांपर थे ?

पहले ही भूताचल या रामगिरि पर्वतको लीजिये । श्री जिनसेनाचार्यने रामगिरिका उल्लेख भूताचलके लिये किया है, इसलिये यह अनुमान करना ठीक है कि रामगिरि और भूताचल एक ही पर्वतके भिन्न नाम थे, अथवा एक पर्वतकी दो शिखिरोंके नाम थे । रामगिरि नागपुर डिवीजनका रामटेक है,^४ जो आज भी एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है । श्री उग्रदित्याचार्यने रामगिरिके जैब मंदिरमें ही बैठकर ग्रंथ रचना की थी । उन्होंने उसे त्रिकलिंग देशमें अवस्थित—

१—“जंबूविभूषणे द्वीपे भारते दक्षिणे महान् ।

सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्ण पोदनं पुरं ॥”

२—पार्श्वनाथचरित् प्रथम सर्ग श्लोक ३७-३८, ४८ व सर्ग २ श्लोक ६९ ।

३—पार्श्वभ्युदयकाव्य—‘यो निर्भत्सै’—इत्यादि पद्य देखो ।

४—जैन सिद्धांत भास्कर (जैसिभा०) भा० ३ पृ० ९३-९४ ।

लिखा है, जिसे विद्वज्जन आधुनिक मध्यप्रांत ही प्रगट करते हैं ।^१ अब जब रामगिरि रामटेक है तो भूताचल भी वहीं कहीं होना चाहिये ।

हमारे मित्र श्री गोविन्द पै नागपुर डिवीजनके वेतूल जिलेको भूताचल अनुमान करते हैं । उसके आसपास पर्वत हैं और वह अश्मकदेशसे भी दूर नहीं है, जैसे कि प्राचीन भारतके नकशेसे स्पष्ट है ।^२ हिन्दू 'मत्स्यपुराण' से एक 'तापस' नामक प्रदेशका दक्षिणापथके उत्तर भागमें होना प्रगट है,^३ जो यूनानी लेखक टोल्मीका मध्यदेशवर्ती 'तबसै' (Tabassoi) प्रतीत होता है । अतः यह संभव है कि कमठ व तापस देशमें स्थित भूताचल या रामगिरि पर्वतपर कुतप तपने गया था । जो हो, यह स्पष्ट है कि पोदनपुरके निकट अवस्थित उपरोक्त पर्वत दक्षिणापथके उत्तरीय भागमें विद्यमान थे ।

अब मलय पर्वत और कुञ्जकसल्लकी बनको लीजिये । कर्निधम सा०ने मलयपर्वतको द्राविड़ देशमें स्थित बताया है ।^४ चीनदेशके यात्री बहानुत्सांगने उसे कांचीसे दक्षिणकी ओर ३०००

१- 'वेङ्कटेश त्रिकलिङ्ग देश....रम्ये रामगिराविद.... । '

—जसिभा० ३ पृ० ९३ ।

२-प्रो० मुकरजीकी 'Fundamental Unity of India' नामक पुस्तकमें ढगा हुआ प्राचीन भारतका नकशा देखो ।

३-मत्स्यपुराण (Panini office ed., S. B. H. Vol. XVII) ch. CXIV.

४-जौण० पृ० ६२७ ।

मीलकी दूरीपर लिखा है ।^१ वेगवती नदी भी द्राविड़देशमें है ।^२ मलयपर्वतपर चन्दन वृक्षोंका वन था । वही कुब्जकसल्लकी वन अनुमान किया जासकता है । इसप्रकार पोदनपुरके पासमें अवस्थित ये उपरोक्त स्थान भी दक्षिण भारतमें मिलते हैं । पोदनपुर इनसे उत्तरकी ओर होना चाहिये; क्योंकि 'भुजबलि चरित्' में उल्लेख है कि गङ्गा सेनापति चामुण्डराय पोदनपुरकी यात्रा करनेके लिये उत्तरकी ओर चलते हुये श्रवणबेलगोल पहुंचे थे ।^३

शेह रहा सुरम्य देश, जिसकी राजधानी पोदनपुर थी । यह देश भी दक्षिणापथमें अवस्थित मिलता है । यूनानी लेखक टोलमीने 'रमनै' (Ramnai) नामक एक प्रदेश मध्यप्रदेशमें लिखा है, जो वर्तमानके मध्यप्रान्त, बरार और निजाम राज्यके कुछ अंश जितना था । संभवतः यह रमनै ही जैनोंका सुरम्य देश है । 'आदिपुराण' में इसीका नाम संभवतः अश्मकरम्यक है ।

अब जरा अजैन साक्षीपर भी ध्यान दीजिये । बौद्ध जातकोंमें पोदनपुर अश्मकदेशकी राजधानी कहा गया है तथा 'सुत्तनिपात'में अस्सकदेश गोदावरी नदीके निकट सक्थ पर्वत, पश्चिमी घाट और दण्डकारण्यके मध्य अवस्थित लिखा है ।^४ संस्कृत भाषाके कोष 'बृहदाभिधान्' में पौण्ड्र्य राजा अश्मककी राजधानी कही गई है और 'रामायण' (किष्किन्धाकाण्ड) में अश्मक देश भारतके दक्षिण

१-पूर्व० पृ० ७४१ । २-पूर्व० पृ० ७३९ ।

३-श्रवणबेलगोल पृ० १०-११ ।

४-अजैन० भाग २२ पृ० २११ ।

या दक्षिण पश्चिमोत्तर भागमें बताया गया है ।^१ किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अजैन ग्रंथोंका पोदन या पौण्ड्य और अश्मकदेश जैनशास्त्रोंका पोदनपुर और सुरम्यदेश है ? हमारे ख्यालसे उन्हें एक मानना युक्तिसंगत है ।

आदिपुराणानुसार सुरम्यदेशका अपरनाम यदि अश्मक-रम्यक माना जाय तो अश्मकदेशको सुरम्य माना जासकता है । ऐसा प्रतीत होता है कि अश्मकका अपर नाम रम्यक या सुरम्य था अथवा यह भी संभव है कि उसके उपरान्त दो भाग अश्मक और रम्यक होगए हों । यह स्पष्ट ही है कि अश्मक और रम्यक प्रायः एक ही दक्षिणापथवर्ती प्रदेश था । 'हरिवंशपुराण' में अश्मकको दक्षिण देश ही लिखा है ।^२

अजैन लेखकोंने भी अश्मकको दक्षिणभारतका देश लिखा है । वराहमिहिरने आंध्रके बाद अश्मकको गिना है ।^३ राजशेखरने भी 'कान्वमीमांसा' में अश्मकको दक्षिणदेश लिखा है ।^४ शाकटायनने साख्य (आंध्रों) के बाद अश्मकका उल्लेख किया है ।^५ कौटिल्यने अश्मकको हीरोंके लिये प्रख्यात और राष्ट्रिकोंके बाद लिखा है ।^६

विन्ध्याचलके परे प्राचीन दक्षिणापथमें हमें हीरोंकी प्रसिद्ध

१-अजैग० भा० २२ पृ० २११ ।

२-हरि० सर्ग ११ श्लोक ७०-७१ ।

३-वराहमिहिरसंहिता परि० १६ श्लो० ११ ।

४-G. O. S., Vol. I, ch. XVII P. १२.

५-(२।४।१०१)

६-अर्थशास्त्र, अधिकार २, प्रकरण २९ ।

खान गोलकुन्डा मिल जाती है । इसलिये अश्मकदेश आजकलका बरार और निजाम राज्यका कुछ अंश जितना था । उधर सुरम्यदेश भी मध्यप्रान्त, बरार और निजाम राज्यको अंशको अपनेमें लिये हुये था, यह पहले ही लिखा जाचुका है । अतः दोनों देशोंको एक अथवा एक देशके दो भाग मानना युक्तिसंगत है । इस अवस्थामें पोदनपुर भारतकी पश्चिमोत्तर सीमापर नहीं माना जासकता ।

कवि घनपालने ' भविष्यदत्त कथा ' में हस्तिनापुरके राजा और पोदनपुरके शासकमें युद्ध होनेका उल्लेख किया है । इन दोनों राज्योंके बीचमें कच्छ देशकी स्थिति वैसी ही थी जैसी कि गत यूरोपीय महायुद्धमें बेलजियमकी थी । यह कच्छ देश सिंधुदेशके समीप स्थित कच्छ नहीं होसकता; क्योंकि वह दोनों राज्योंके बीचमें नहीं पड़ता । हां, यदि यह कच्छ देश ग्वालियर राज्यके नरवर-जिलेमें रहे हुये कच्छवाहे क्षत्रियोंका प्रदेश माना जाय, जिसका मानना ठीक प्रतीत होता है, तो उसकी स्थिति दोनों राज्योंके ठीक बीचमें आजाती है ।

कवि घनपालने पोदनपुर नरेशको साकेत नरेन्द्र भी लिखा है, जिसका भाव यही है कि वह साकेत (अयोध्या) के राजवंशसे सम्बन्धित थे । पोदनपुर राजकुलके आदिपुरुष बाहुबलि साकेत-राजाके सुपुत्र और युवराज थे । कवि घनपालने पोदनपुरको सिंधु-देशमें लिखा है सो ठीक है, क्योंकि अवन्तीके आसपासका प्रदेश सिन्धुनदीकी अपेक्षा सिन्धुदेश भी कहलाता था । अतः बाहुबलि

नरेशकी राजधानी पोदनपुर दक्षिणापथमें ही प्रमाणित होती है ।^१ बाहुबलि दक्षिण भारतके पहले सम्राट् थे और पहले साधु थे । दक्षिण भारतमें आज भी उनकी वृद्धकाय पाषाणमूर्तियां इस स्मारकको जीवित बनाये हुए हैं ।

“अन्य तीर्थकर और नारायण तृपृष्ठ ।”

भगवान् ऋषभदेवके अतिरिक्त पौराणिक कालमें भगवान् अजितनाथसे भगवान् अरिष्टनेमि पर्यन्त २१ तीर्थङ्कर और हुये थे । इन तीर्थङ्करोंने भी केवलज्ञान प्राप्त करके उत्तर और दक्षिणभारतमें विहार किया और धर्मोपदेश दिया था । ‘उत्तरपुराण’ में लिखा है^२ कि मल्लयदेशके भद्रपुरमें तीर्थङ्कर शीतलनाथका जन्म हुआ था । और वहींपर मुंडशालयन नामक एक ब्राह्मण रहता था; जिसने कोभ कषायके वश हो करके ऐसे शास्त्रोंकी रचना की कि जिनमें ब्राह्मणोंको सोने चांदीका दान देनेका वर्णन था ।

उन शास्त्रोंको राजदरबारमें उपस्थित करके उसने दान दक्षिणामें बहुतसा धन प्राप्त किया था । यहींसे मिथ्या मतका प्रचार हुआ कहा गया है । मल्लयदेश द्राविड़क्षेत्रमें माना जाता है । इसलिये भद्रपुर भी वहीं अवस्थित प्रगट होता है; किन्तु आधुनिक मान्यतानुसार शीतलनाथ भगवानका जन्मस्थान वर्तमान मेलसा है, जो मध्यप्रदेशमें अवस्थित है । इस मान्यताका क्या आधार है, यह ज्ञात नहीं है ।

१-विशेषके लिये ‘बूलनर कमोमेरेशन वाल्यूम’ (लाहोर) में हमारा ‘पोदनपुर और तक्षशिळा’ शीर्षक लेख देखो ।

२-उप० १६।२३-८९ ।

दूसरे तीर्थंकर भ० अजितनाथके समयमें सगर चक्रवर्ती हुये थे । उन्होंने षट्खंड दिग्विजय किये थे, जिसका अर्थ यह होता है कि उन्होंने दक्षिणभारतको भी विजय किया था । उनके पश्चात् कालानुसार मधवा, सनत्कुमार, सुभौम, पद्म, हरिषेण आदि चक्रवर्ती हुये थे, जिन्होंने भी अपनी दिग्विजयमें दक्षिणभारत पर अपनी विजय—वैजयन्ती फहराई थी ।

भ० श्रेयांसनाथके समयमें दक्षिणापथवर्ती पोदनपुरके राजा प्रजापति थे । उनकी महारानीका नाम भगवती था । उनके एक भाग्यशाली पुत्र जन्मा, जिसका नाम उन्होंने तृष्ट रक्खा । यही तृष्ट जैनशास्त्रोंमें पहले नारायण कहे गये हैं । तृष्टकी विमातासे उत्पन्न विजय नामक भाई पहले बलदेव थे । तृष्ट और विजयमें परस्पर बहुत ही प्रेम था ।

नारायण तृष्टने प्रतिनारायण अश्वघ्नीवको युद्धमें हराकर दक्षिण भारतको अपने आधीन किया था । तृष्टकी पट्टरानी स्वयं-प्रभा थी और उसके ज्येष्ठ पुत्रका नाम श्रीविजय था । श्रीविजयका विवाह ताराके साथ हुआ था । तृष्टके बाद पोदनपुरके राजा श्रीविजय हुये थे । उनके भाई विजयभद्र युवराज थे । ताराको एक विद्याधर हर ले गया था । श्रीविजयने युद्ध करके ताराको उस विद्याधरसे वापस लिया था । राजा प्रजापति और बलदेवविजयने मुनिव्रत धारण कर कर्मोंका नाश किया था; परन्तु तृष्ट बहु परिग्रही होनेके कारण नरकका पात्र बना था । तो भी इसमें शक नहीं कि दक्षिण भारतका वह दूसरा प्रसिद्ध और बलवान राजा था ।^१

नारायण द्विपृष्ठ ।

दूसरे नारायण द्विपृष्ठ भगवान वासुपूज्यके समयमें हुये थे । यद्यपि उनका जन्म द्वारामती नगरीमें हुआ था, परन्तु उनके पूर्व-भवका सम्बन्ध दक्षिण भारतसे अवश्य था । अपने पूर्वभवेमें वह कनकपुरके राजा सुषेण थे । उनकी गुणमंजरी नामक नृत्यकारिणी सुंदरी और विद्वान् थी । मल्लदेशके विंध्यपुर नगरमें राजा विंध्य-शक्ति राज्य करता था । उसने गुणमंजरीकी प्रसिद्धि सुनी और सुनते ही उसने सुषेणसे उसे मंगवा भेजा । और जब सुषेणने उसे राजीसे नहीं दिया तो वह सुषेणको युद्धमें परास्त करके जीत लाया । सुषेण मुनि होगया और आयु पूरी कर स्वर्गमें देव हुआ ।

वहांसे चयकर वही नारायण द्विपृष्ठ हुआ । विंध्यशक्तिसे उसका पूर्व वैर था—उसे वह भूला नहीं । विंध्यशक्तिका जीव संसारमें रूल कर भोगवर्द्धनपुरके राजाके यहां तारक नामक श्याम-वर्ण पुत्र हुआ । तारक राजा होनेपर एक प्रभावशाली शासक और विजेता सिद्ध हुआ । तारकने द्विपृष्ठसे भी कर मांगा, परन्तु द्विपृष्ठने इसे अपना अपमान समझा । इसी बातको लेकर दोनोंमें घमासान युद्ध हुआ, जिसमें तारकको अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़े । द्विपृष्ठने तीन खंड पृथ्वीका स्वामित्व प्राप्त किया । दिग्विजय करके उन्होंने प्रतीप नामक पर्वतपर श्री वासुपूज्य स्वामीकी वन्दना की । द्विपृष्ठ यद्यपि बलवान राजा था, परन्तु वह इन्द्रियोंका गुलाम था । इसी लिये शास्त्रोंमें कहा गया है कि वह मरकर नरकका पात्र हुआ ।^१

पोदनपुरके अन्य राजा ।

तीर्थंकर विमलनाथके समयमें गणधर मेरुमंदर और मुनि संज-यंत हुये थे । उनके पूर्वभवके वर्णनमें पोदनपुरके राजा पूर्णचन्द्रका उल्लेख है । राजा पूर्णचन्द्रको साकेतके राजा आदित्यबलकी पुत्री हिरण्यवती व्याही गई थी । उनका पुत्र सिंहचंद्र था ।^१ पूर्णचंद्रकी पुत्री रामदत्ताका व्याह सिंहपुरके राजा सिंहसेनके साथ हुआ था ।^२

तीर्थंकर अनंतनाथके सुप्रभ नामक बलभद्र और पुरुषोत्तमना-रायण हुये थे । उनके पूर्वभवान्तरोंमें पोदनपुरके राजा वसुसेनका उल्लेख है । वसुसेनकी महारानी नंदा परमपवित्र और अनुपम सुंदरी थीं । वसुसेनका मित्र मलयदेशका राजा चंडशासन था । एकदा वह उससे मिलने आया । रानी नंदाके रूपलावण्यपर वह आसक्त होगया और किसी उपायसे उसे हरकर वह अपने नगर लेगया । राजा वसुसेन विरक्त हो मुनि होगया ।^३

राजर्षि बाहुबलीकी ही वंशपरंपरामें उपरांत श्रेष्ठ राजा तृणपि-गल हुआ । उसकी पट्टरानीका नाम सर्वयशादेवी था । उनके मधु-पिंगल नामक सुन्दर पुत्र था । अयोध्याके सगरने चालाकीसे उसे दूषित शरीर ठहरवाकर एक स्वयंवरसे निकलवा दिया था; जिस क्रोधको लेकर वह मरा और महाकाल नामका व्यंतर हुआ । इस महाकालने अपना वैर चुकानेके लिये यज्ञमें पशुओंको होमनेकी प्रथाका श्रीगणेश किया था ।

१-उपु० १९।२०८-९ । २ हरि० २७।१५ ।

३-उपु० ६०।१०-१७ । ४-उपु० ६७।२२३-२५ ।

पोदनपुरके एक अन्य राजा सुप्रतिष्ठ थे । यह राजा सुस्थित और रानी सुलक्षणाके सुपुत्र थे । कारण पाकर यह विरक्त होकर सुधर्माचार्यके चरण—कमलोंमें मुनि होगये । हरिवंशके महापुरुष अंधकवृष्णि आदिने इन सुप्रतिष्ठ मुनिराजसे धर्मोपदेश सुनकर मुनि-व्रत धारण किये थे । मुनिराज सुप्रतिष्ठका शौरसेन देशमें कईबार विहार हुआ था । आखिर वहीँके गंधमादन पर्वतपर उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ था और वे मोक्षपदके अधिकारी हुये थे ।^१

पांडवोंके समयमें पोदनपुरका राजा चन्द्रवर्मा था । वह राजा चंद्रदत्त और रानी देविकाका पुत्र था । राजा द्रुपदके एक मंत्रीने उसके साथ द्रौपदीका व्याह करनेकी बात कही थी ।^२

‘भविष्यदत्त कथा’ में पोदनपुरके एक राजाका युद्ध हस्तिना-पुरके राजा भूपालके साथ हुआ वर्णित है । इस युद्धमें पोदनपुर नरेशको पराजित होना पड़ा था ।^३

चक्रवर्ती हरिषेण ।

तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथजीके समयमें चक्रवर्ती हरिषेण हुये थे । उनका जन्म भोगपुरके महाराज इक्ष्वाकुवशी राजा पद्मकी रानी ऐरादेवीकी कोखसे हुआ था । भोगपुर संभवतः दक्षिण भारतका

१-उपु० ७०-१३७....। २-उपु० ७९-२०१....।

३-मविष्प० संक्षि १३ ।

कोई नगर था । इसी नगरमें उनके पहले प्रतिनारायण तारकका जन्म हुआ था । दक्षिण भारतमें इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंका राज्य एक समय रहा था । इसलिये ही यह अनुमान ठीक है कि हरिषेण चक्रवर्तीका सम्बंध दक्षिण भारतसे था ।

हरिषेण बाल्यकालसे ही धर्मरुचिको लिये हुए थे । एक रोज वह अपने पिता राजा पद्मनाभके साथ अनन्ततीर्थ मुनिराजकी वंदना करने गये । मुनिराजसे उन्होंने धर्मोपदेश सुना । राजा पद्मनाभ विरक्त होकर मुनि होगये और हरिषेणने आबकके व्रत लिये ।

जब पद्मनाभको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तब ही हरिषेण चक्रवर्तीको चक्ररत्नकी प्राप्ति हुई । हरिषेणने पहले केवली भगवानकी वन्दना की, पश्चात् षट्स्वण्ड पृथ्वीको विजय किया । इस दिग्विजयमें उन्होंने निस्सन्देह दक्षिण भारतको भी विजय किया था ।

हरिषेण धर्मात्मा सम्राट् थे । उन्होंने एकदा अष्टान्हिका महाव्रतकी पूजा की, जिससे उनके परिणाम धर्मरससे सलिल होगये । उन्होंने अट्टालिका पर बैठेर पूर्णचन्द्रको राहुग्रसित देखा, जिससे उन्हें वैराग्य होगया । अपने पुत्र महासेनको राज्य देकर उन्होंने सीमंतक पर्वतपर श्री नाग मुनीश्वरके निकट दीक्षा ग्रहण करली । मुनि हरिषेणने खूब तप तपा और समाधिमरण द्वारा आयु समाप्त करके सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्रपद पाया ।^१

श्री राम, लक्ष्मण और रावण ।

भगवान् मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थकाळमें बलदेव और नारायण श्री राम और लक्ष्मण हुये थे। वे अयोध्याके पूर्व भव । राजा दशरथके सुपुत्र थे । बाल्यावस्थासे ही उनकी प्रतिभा और पौरुषका प्रकाश हुआ था । यद्यपि उनका जन्म और प्रारम्भिक जीवन उत्तर भारतमें व्यतीत हुआ था, परन्तु उनका सम्बन्ध दक्षिण भारतसे उनके उस जन्मसे भी पहलेका था और उपरांत युवावस्थामें जब वे दोनों भाई वनवासमें रहे तब उनका अधिकांश समय दक्षिण भारतमें ही व्यतीत हुआ था । अच्छा, तो राम और लक्ष्मणके जीव अपने एक पूर्वभवमें दक्षिण भारतकी सुभूमि पर केलि करते थे ।

दक्षिणके मलय देशमें एक रत्नपुर नामका नगर था । उस नगरका प्रजापति नामका राजा था । उसका एक लड़का था, जिसका नाम चन्द्रचूल था । चन्द्रचूलका प्रेम राजमन्त्रीके पुत्र विजयसे था । अपने मां—बापके यह दोनों इकलौते बेटे थे । दोनोंका बेढब लाड़ प्यार होता था । लाड़प्यारकी इस अधिकताने उन्हें समुचित शिक्षासे शून्य रक्खा । मां—बापके अनुचित मोह—ममत्ताने उनके जीवन बिगाड़ दिये । वे दोनों दुराचारी होगये ।

रत्नपुरमें कुबेर नामका एक बड़ा व्यापारी रहता था । उसका बड़ा नाम और बड़ा काम था । कुबेरदत्ता उसकी कन्या थी । वह अनुपम सुन्दरी थी । युवावस्थाको प्राप्त होने पर कुबेरदत्तने अपनी उस कन्याका व्याह उसी नगरमें रहनेवाले एक दूसरे प्रख्यात् सेठ

वैश्रवणके सुपुत्र श्रीदत्तके साथ करना निश्चित किया । उधर राज-कुमार चन्द्रचूलके कान तक कुबेरदत्ताके अनुपम रूप—सौन्दर्यकी वार्ता पहुंची । वह दुराचारी तो था ही—उसने कुबेरदत्ताको अपने आधीन करनेके लिये कमर कस ली । राजकुमारका यह अन्धाय देख कर वैश्य समुदाय इकट्ठा होकर राजदरबारमें पहुंचा और उन्होंने इस अत्याचारकी शिकायत महाराज प्रजापतिसे की ।

महाराज प्रजापति अपने पुत्रसे पहले ही अप्रसन्न थे । इस समाचारको सुनने ही वह आग—बबुका होगये । उन्होंने न्याय—दण्डको हाथमें लिया और कोतवालको चंद्रचूल तथा उसके मित्र विजयको प्राणदण्ड देनेकी आज्ञा दी । राजाके इस निष्पक्ष न्याय और कठोर दण्डकी चरचा पुरवासियोंमें हुई । बुढ़े मंत्रीका पुत्रमोह जागा । वह नगरवासियोंको लेकर राजाकी सेवामें उपस्थित हुआ ।

सबने राजासे प्रार्थना की कि ‘वह अपनी कठोर आज्ञा लौटा लें’—राज्यका एक मात्र उत्तराधिकारी चंद्रचूल है, उसको प्राणदान दिया जाय ।’ किन्तु राजाने यह कहकर उन लोगोंकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी कि ‘आप लोग मुझे न्यायमार्गसे च्युत करना चाहते हैं, यह अनुचित है ।’ सब चुप होगए । राजहठ और सो भी समुचित ! किसका साहस था जो मुंह खोलता ।

इस परिस्थितिमें मंत्रीने अपनी बुद्धिसे काम लिया । उन्होंने दोनों युवकोंको प्राणदण्ड देनेका भार अपने ऊपर लिया । वह अपने पुत्र और राजकुमारको लेकर बनगिरि नामक पर्वतपर गए । वहांपर महाबल नामक मुनिराज बिराजमान थे । तीनों ही आगंतुकोंने उन

साधु महाराजकी वन्दना की और धर्मोपदेश सुना, जिससे उनके भाव शुद्ध होगये । उन्हें अपने पर बहुत ग्लानि हुई । अपनी करनीपर वह पछताने लगे । संसारसे उन्हें बैराग्य हुआ -नाशवान जीवनमें उन्होंने अमरत्वका रस पाया । वे शटपट गुरुके चरणोंमें गिर पड़े । गुरु विशेष ज्ञानी थे, उन्होंने अपने ज्ञान-नेत्रोंसे उनका भावी अभ्युत्थान देखा । चटसे उन्होंने उन दोनों युवकोंको अपना शिष्य बना लिया । मंत्री यह देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और अपना काम बनाकर वह रत्नपुर लौट गया ।

मुनि होकर चन्द्रचूल और विजय नये जीवनमें पहुँच गये । उनकी कायापकट होगई । अग्निमें तपकर सोना विशुद्ध होजाता है ठीक वैसे ही तपकी अग्निमें प्रवेष्ट करके उन दोनों युवकोंकी आत्मायें अपनी कालिमा स्वीकर बहुत कुछ शुद्ध होगई । किन्तु इस उच्च दक्षायें भी उन्हें एक कामनाने अपना शिकार बनाया । उन्होंने निदान किया कि हम दोनोंको क्रमशः नारायण और बलभद्रका ऐश्वर्यशाली पद प्राप्त हो । वह आयुके अंतमें इस इच्छाको लिये हुए मरे । मरते समय उन्होंने शुभ आराधनायें आराधनीं । दोनों कुमारोंके जीब सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुए । देव पर्यायके सुखभोग-कर वे चये और अयोध्यामें राम और लक्ष्मण हुए ।

जब राम और लक्ष्मण युवक कुमार थे तब भारतपर अर्द्धवरवर देशके रहनेवाले म्लेच्छोंका आक्रमण हुआ ।
राम और लक्ष्मण । राजा जनकने राम और लक्ष्मणकी सहाय-
 तासे इन म्लेच्छोंको मार भगाया था ।

युद्धमें बचे हुये म्लेच्छ अपने प्राण लेकर विंध्याचलकी पहाड़ियोंमें जा छिपे और रहने लगे । यह अर्द्धबरबर देश मध्य एशियासे ऊपरका देश अनुमानित होता है । इस देशके राजाकी अध्यक्षतामें श्याममुख, कर्दमवर्ण आदि म्लेच्छ भारतमें आये थे । इन म्लेच्छोंको मार भगानेमें राम और लक्ष्मणने खासी वीरता दर्शाई थी । जनक उन राजकुमारोंपर मोहित हुये और उन्होंने अपनी राजकुमारियोंका व्याह उनके साथ करना निश्चित कर लिया । स्वयंवर रचा गया और उसमें भी राम और लक्ष्मणने अपना धनुर्कौशल प्रगट किया । सीताने रामके गलेमें वरमाला डाली । रामचन्द्रके साथ उनका व्याह हुआ । अन्य राजकुमारी लक्ष्मणको व्याही गई । दोनों राजकुमार सानन्द कालक्षेप करने लगे ।

राम और लक्ष्मण राजा दशरथके बेटे थे । दशरथने वृद्धा-

वस्थाको आया देखकर अपना आत्महित

वनवास । करना विचारा, वह संसारसे विरक्त हुये ।

ज्येष्ठ पुत्र रामचंद्र थे । उन्हें ही राजपद

मिलना था । भरतकी माता कैकयीने भी यह बात सुनी । वह राजा

दशरथके पास गई और उन्हें मुनि-दीक्षा लेनेसे रोकने लगी; परन्तु

दशरथ महाराजके दिलपर वैराग्यका गाढ़ा रंग चढ़ गया था ।

कैकयीकी बात उनको नहीं रुची । तब कैकयीने अपनी बात कही ।

एक दफा युद्धमें कैकयीकी वीरतापर प्रसन्न होकर दशरथने उसे एक

वचन दिया था । कैकयीने वही वचन पूरा करनेके लिये दशरथसे

प्रार्थना की । दशरथ आर्य राजत्वके आदर्शथे । उन्होंने रानीसे कहा,

‘खुशीसे जो चाहो मांगलो ।’ कैकयी प्रसन्न हुई । उसने कहा कि ‘भरतको राज्य दीजिये और रामचन्द्रको वनवास ।’ दशरथ यह सुनकर दंग रह गये । रानीका हठ था और वह स्वयं वचनबद्ध थे । जो कैकयीने माँगा वह उन्हें देना पड़ा । परन्तु इस घटनाने उन्हें ऐसा मर्माहत किया कि वह अधिक समय जीवित न रहे । तत्काल ही घर छोड़कर मुनि होगये । भरत राजा हुये, रामचन्द्र वनवासी बने ।

वनवासमें रामचन्द्रजीके साथ उनकी पत्नी सीता और उनके छोटे भई लक्ष्मण भी थे । वे दोनों

वनवासमें दक्षिण भार- रामचन्द्रजीके दुःख-सुखमें बराबर
तका प्रवास । साथी रहे । भरतको भी रामचन्द्रसे
अत्यधिक प्रेम था । वह भ्रातृप्रेमसे

प्रेरित होकर उन्हें वापिस लौटा लानेके लिये वनमें गये, परन्तु रामचन्द्रने उनकी बात नहीं मानी । बल्कि वनमें ही अपने हाथसे उनका राज्याभिषेक कर दिया । भरत अयोध्या लौट आये । राम, लक्ष्मण और सीता आगे बढ़े । मालवदेशके राजाकी उन्होंने सहायता की और उसका राज्य उसे दिलवा दिया । आगे चलकर बाल्यखिल नरेन्द्रको उन्होंने विंध्यटवीके म्लेच्छोंसे छुड़ाया । वह अपने नलकूवर नगरमें जाकर राज्य करने लगा । म्लेच्छ सरदार रौद्रभूत उसका मंत्री और सहायक हुआ । इस प्रकार एक राज्यका उद्धार करके राम-लक्ष्मण आगे चले और ताम्री नदीके पास पहुँचे । वहाँ एक वृक्षने नारायण-बलभद्रके सम्मानमें एक सुन्दर नगर रचा, जिसका नाम रामपुर रक्खा । वहाँसे चले तो वे विजयपुर पहुँचे । लक्ष्मणके

वियोगमें तड़फती वहांकी राजकुमारी वनमाला उन्हें पाकर अति प्रसन्न हुई । लक्ष्मणके समागमसे उसके प्राण बचे । यहांसे रघुकुलका अपमान करनेवाले नन्द्यावर्तके राजाको दण्ड देनेके लिये राम और लक्ष्मण गए । वह राजा उनसे परास्त होकर मुनि होगया । राम-लक्ष्मण वंशधर पर्वतके निकट वंशस्थल नगरमें पहुंचे ।

उस पर्वतपर रातको भयानक शब्द होते थे, जिसके कारण नगरनिवासी भयभीत थे । साहसी भाइयोंने उस पर्वतपर रात विताना निश्चित किया । वे परोपकारकी मूर्ति थे—लोकका कल्याण करना उन्हें अभीष्ट था । रातको वे पर्वतपर रहे—वहां साधु युगलकी बंदना की । उन साधुओंपर एक दैत्य उपसर्ग करता था, इसी कारण भयानक शब्द होता था । राम और लक्ष्मणने उस दैत्यका उपसर्ग नष्ट किया । उन दोनों मुनिराजोंको उपसर्ग दूर होते ही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । उनका नाम कुलभूषण और देशभूषण था । बहादुरप्रांतीय कुंथलगिरि पर आज भी इन मुनिराजोंका स्मारक विद्यमान है । रामचंद्रजीने भी उनके स्मारक स्वरूप वहांपर कई जिनमंदिर बनवाये थे ।

वहांसे आगे चलकर रामचन्द्रजी दण्डकारण्यमें पहुंचे । उस समय तक वह मनुष्यगम्य नहीं था; परन्तु रामचन्द्रजीके साहसके सामने कुछ भी अगम्य न था । वह उसमें प्रवेश करके एक कुटिया बनाकर रहने लगे । वहीं उन्होंने दो चारण मुनियोंको आहारदान दिया, जिसकी अनुमोदना एक गिद्ध पक्षीने भी की । राम-लक्ष्मणके साथ रहकर वह श्रावकाचार पालने लगा । रामने इसका नाम जटायु रखवा । दण्डकवनमें आगे घुसकर राम और लक्ष्मणने कौंचवा नदी

पार की और वे दण्डकगिरिके पास जाकर ठहरे । वहां उन्होंने नगर बसाकर रहना निश्चित कर लिया था ।

इसका अर्थ यह होता है कि वे वहां अपना उपनिवेश स्थापित करके रहना चाहते थे । किन्तु वहां एक अवटित घटना घट गई । लक्ष्मणके हाथसे धोखेमें खरदूषणके पुत्र शम्भुकी मृत्यु होगई । खरदूषणने राम-लक्ष्मणसे युद्ध ठान दिया । रावणका वह बहनोई था । उसने उसके पास भी सहायताके लिये समाचार भेज दिये । राम और लक्ष्मण नर-पुंगव थे । वे इस आपत्तिको देखकर जरा भी भयभीत नहीं हुये । राम युद्धके लिये उद्यत हुये, परन्तु लक्ष्मणने उन्हें जाने नहीं दिया । वह स्वयं युद्ध लड़ने गये और कह गये कि यदि मैं सिंहनाद करूं तो मेरी सहायताको आइये । राम और लक्ष्मण वीर पुरुष थे, उनका पुण्य अक्षय्य था । खरदूषणका शत्रु विराधित उनकी सहायता करनेके लिये स्वयं आ उपस्थित हुआ ।

खरदूषणका आशा भरोसा लंकाका राजा रावण था । रावणने

तीनखंड पृथ्वीको जीतकर अपना पौरुष प्रगट

रावण ।

किया था । वह बड़ा ही क्रूर परन्तु पराक्रमी

था । उसने अनेक विधायें सिद्ध कीं थीं ।

वह राक्षस नामक विद्याधरोंके राजवंशका अग्रणी था । असुरसंगीत नगरके राजा मयकी पुत्री मन्दोदरी रावणकी पटरानी थी । रावणने दिग्विजयमें दक्षिणभारतके देशोंको भी अपने आधीन बनाया था । रावणके सहायक हैहय, टंक, किहिकन्ध, त्रिपुर, मलय, हेम, कोक आदि देशोंके राजा थे । रावण अपनी दिग्विजयमें विंध्याचलपर्वतसे

होता हुआ नर्मदाके तटपर आया था और वहां डेरा डाले थे । वह जिनेन्द्रभक्त था । इस संग्रामक्षेत्रमें भी वह जिनपूजा करना नहीं भूलता था । रावणने जिस स्थानपर पड़ाव डाला था, वहांसे कुछ दूरीपर माहिष्मती नगरीका राजा सहस्ररश्मि जलयंत्रके द्वारा जल बांधकर अपनी रानियों सहित क्रीड़ा कर रहा था । अकस्मात् बांधा हुआ जल टूट गया और नर्मदामें बेढब बाढ़ आनेसे रावणकी पूजामें भी विघ्न पड़ा । रावणने सहस्ररश्मिको पकड़नेके लिये आज्ञा दी ।

रावणके योद्धा चले और वायुयानोंपरसे युद्ध करने लगे, जिसे देवोंने अन्याय बताया, क्योंकि सहस्ररश्मि भूमिगोचरी था, उसके पास वायुयान नहीं थे । * हठात् रावणके योद्धा पृथ्वीपर आये और सहस्ररश्मिसे युद्ध करने लगे । सहस्ररश्मि ऐसी बीरतासे लड़ा कि रावणकी सेना एक योजन पीछे भाग गई ।

यह देखकर रावण स्वयं युद्ध क्षेत्रमें आया । उसके आते ही संग्रामका पासा पलट गया । उसने सहस्ररश्मिको जीता पकड़ लिया किन्तु मुनि शतबाहुके कहनेसे रावणने उन्हें छोड़ दिया और अपना सहायक बनाना चाहा, परन्तु वह मुनि होगये । उस दिग्विजयमें रावण जहां जहां जाता वहां वहां जिनमंदिर बनाता था, अथवा उनका जीर्णोद्धार कराता था और हिसकोंको दण्ड तथा दरिद्रियोंको दाम देकर संतुष्ट करता था । दक्षिण भारतके पूदी पर्वत आदि

* इससे स्पष्ट है कि रावण भारतवर्षका निवासी नहीं था, उसकी लंका भारतवर्षके बाहर कहींपर थी, यह अनुमानित होता है । विशेषके लिये 'भगवान पार्श्वनाथ' नामक पुस्तक देखिये ।

स्थानोंपर उसने जिन मूर्तियां स्थापित कराई थीं । × इस प्रकार रावणने अपना प्रताप चहुंओर छिटका रक्खा था । खरदूषणने उसको अपनी सहायताके लिये बुलाया । और वह आया भी । मार्गमें आते हुये रावणने सीताको देखा । वह उसके रूप-सौन्दर्यपर मुग्ध होगया । धोखा देकर वह सीताको हरकर लंका लेगया । राम और लक्ष्मण जब युद्धसे लौटे तो उन्होंने सीताको नहीं पाया । वे उनके वियोगमें आकुल-व्याकुल होगये और उनकी तलाशमें वन-वन भटकने लगे ।

बाकी द्वीपमें बानरवंशी विद्याधर राजा रहते थे । उनके वंशज वहांसे राज्यच्युत होकर दक्षिण भारतमें आ **राम-रावण युद्ध** । रहे । मिट्ठिन्धापुर उनकी राजधानी थी ।

तब वहां सुग्रीव नामका राजा राज्य करता था । रामचंद्रने उसकी सहायता करके उसे अपना मित्र बनाया । सुग्रीवने सीताका पता लगानेके लिये शपथ ली और वह उस कार्यमें सफल हुआ । राम और लक्ष्मणको पता चल गया कि सीता रावणके यहां लंकामें है । लक्ष्मणने दक्षिण भारतकी कोटिशिलाको घुटनौतक उठाकर अपने अतुल बलका परिचय विद्याधर राजाओंको दिया; जिससे वे रामका साथ देकर रावणसे लड़नेके लिये तत्पर होगये ।

अब हनुमानजीको सीताके समाचार लेनेके लिये भेजा गया । वह दक्षिण भारतके महेन्द्र पर्वतपरसे होकर लंका गये थे । वहां

पहुँचकर सीताजीसे मिले और रावण एवं उसके परिजनोको सम-
झाया; परन्तु रावणने एक न मानी। इनुमानजी लौटकर रामके पास
आये और सब समाचार कह सुनाये। इसपर राम और लक्ष्मणने
रावणपर आक्रमण किया और भयानक युद्धके उपरान्त लक्ष्मणके
हाथसे रावणका वध हुआ। सीता रामको मिली। लंकाका राज्य
विभीषणको दिया गया।

राम, लक्ष्मण और सीता वनवासका काल व्यतीत करके अयोध्या

लौट आये। राम राजा हुये और सानंद

राम और लव-कुश। राज्य करने लगे। भरत मुनि होगये।

रामने सीताको घरमें वापस रख लिया,

इस बातको लेकर प्रजाजन उच्छ्रंखल होने लगे। इस पर रामने

सीताको वनवासका दंड दिया। सीता गर्भवती थी, वनमें असहाय

खड़ी थी कि पुण्डरीकपुरके वज्रजंघ राजाने उसकी सहायता की।

वह सीताको अपने नगर लिवा लेगया और धर्ममगिनीकी तरह उसे

रक्खा। वहां सीताके लव और कुश नामक दो प्रतापी पुत्र हुये।

युवावस्था प्राप्त करके यह दिग्विजय करनेके लिये निकले।

पोदनपुरके राजाके साथ इनकी मित्रता होगई और ये उसके

साथ अनेक देश देशांतरोंको विजय करनेमें सफल हुए। आंध्र,

केरल, कर्लिंग आदि दक्षिण भारतके देशोंको भी इन्होंने जीता था,

परन्तु अयोध्या तक वह नहीं पहुँचे थे। नारदने राम-लक्ष्मणका वृत्तांत

दोनों माइयोंसे कहा, जिसे सुनकर वे क्रोधित हो उनपर सेना लेकर

चढ़ गये। पिता-पुत्रोंका युद्ध हुआ, किन्तु क्षुल्लक सिद्धार्थने उनसे

परस्पर संधि करादी । लव कुश अयोध्यामें पहुंचे । सीताकी अग्नि परीक्षा हुई जिसमें उनकी सहायता देवोंने की । रामने सीतासे घर चल-
नेकी प्रार्थना की, परन्तु उन्होंने उसे अस्वीकार किया और पृथ्वी-
मति आर्यिकाके निकट साध्वी होगई । साध्वी सीताकी वन्दना
राम-लक्ष्मणने की । इस प्रकार दक्षिण भारतसे राम और लक्ष्मणका
सम्पर्क था । *

राजा ऐलेय और उसके वंशज ।

भगवान् मुनिसुव्रतनाथजीके समयमें सुव्रतके पुत्र दक्ष नामके राजा
हुये थे । यह हरिवंशी क्षत्रिय थे । उनकी रानीका नाम इला था ।
उनसे राजा दक्षके ऐलेय नामका पुत्र और मनोहरी नामक पुत्री हुई
थी । पुत्री अतिशय रूपवती थी । राजा दक्ष स्वयं अपनी पुत्रीपर
आसक्त था । उसने धर्ममर्यादाका लोप करके मनोहरीको अपनी
पत्नी बना डाला ! इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि दक्षके विरोधी
स्वयं उसके परिजन होगये । रानी इला अपने पुत्र ऐलेयको सरदारों
सहित लेकर विदेशको चल दी । अनीतिपूर्ण राज्यमें कौन रहे ? दुर्ग
देशमें पहुंचकर उन्होंने इलावर्द्धननगर बसाया और वहां ही वे रहे ।
ऐलेय हरिवंशका तिलकस्वरूप प्रमाणित हुआ । उसने अपने शीर्य
और पुरुषार्थसे ताम्रलिप्त नगर बसाया और दक्षिण दिग्विजयके लिये
वह नर्मदातट पर आया ।

वहां उसने माहिष्मती नगरीका नींबारोपण किया । वहीं उसकी

* उपु० पर्व ६७ व प्राज्ञेह० भा० २ पृ० ९०-१९० ।

राजधानी रही । कई देशोंको जीतकर ऐलेयने धर्मराज्य किया । वृद्धावस्थामें वह अपने कुणिम नामक पुत्रको राज्य देकर तपके लिये वनमें चला गया । शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा कुणिमने विदर्भ-देशमें वरदा नदीके किनारे एक कुंढिनपुर नामका नगर बसाया । कुणिमके पश्चात् उनका पुत्र पुलोम राजा हुआ, जिसने पौलोमपुर नामका नगर बसाया । इनके पौलोम और चरम नामक दो पुत्र थे । पुलोमके मुनि होनेपर वे ही राजा हुये । उन्होंने कई राजाओंको जीता था । दोनोंने मिलकर रेबानदीके किनारे इन्द्रपुर बसाया और चरमने जयन्ती और वनवास नामक दो नगर प्रथक बसाये ।

उपरान्तकालमें यह दोनों नगर दक्षिणभारतके इतिहासमें खूब ही प्रसिद्ध हुये थे । राजा चरमका पुत्र संजय और पौलोमका महीदत्त हुआ । उनके उपरान्त वे ही राज्याधिकारी हुये । महीदत्तने कल्पपुर बसाया । अरिष्टनेमी और मत्स्य-ये दो उनके पुत्र थे । राजा मत्स्यने भद्रपुर और हस्तिनापुरको जीत लिया और वह हस्तिनापुर आकर राज्य करने लगा था । मत्स्यके पश्चात् आयोवन नामका राजा हुआ, जिसकी सन्तान जाकर विदेशदेशमें राज्य करने लगी थी । इन्हीं मिथिलानाथकी सन्ततिमें एक अभिचन्द्र नामका पराक्रमी राजा हुआ; जिसने विंध्याचलपर्वतके पृष्ठभागपर चेदिराष्ट्री स्थापना की एवं शुक्तिमती नदीके तटपर शुक्तिमती नामकी नगरी बसाई ।

राजा अभिचन्द्रका विवाह उग्रवंशसे उत्पन्न रानी वसुमतीसे हुआ था । इन्हींका पुत्र वसु था; जिसने जिह्वालम्पटताके वंश हो 'अज' शब्दका अर्थ 'शालि' न बताकर 'बकरा' बताया और यज्ञोंमें

हिंसाको स्थान दिया था । इस प्रकार दक्षिणापथके एक प्राचीन नगरसे वेदोंमें हिंसक विधानोंको स्थान मिला था जैसे कि पहले भी लिखा जा चुका है । राजा वसुके पुत्र सुवसु और बृहदध्वज वहां न रह सके । सुवसु भागकर नागपुरमें जा रहा और बृहदध्वज मथुरामें आ बसा । जिसके वंशमें प्रतापी राजा यदु हुआ था । *

कामदेव नागकुमार ।

कनकपुरके पास राजा जयन्धर थे । उनकी एक रानी विशालनेत्रा थी, जिससे उनके एक पुत्र श्रीधर नामका था । एक रोज जयन्धर राजासे किसी वणिक्ने आकर कहा कि सौराष्ट्रदेशस्थ गिरिनगरके राजाकी पृथ्वीदेवी नामकी कन्या अति सुन्दरी है, जिसे वह राजा उन्हें व्याहनेके लिये उत्सुक है । जयन्धर यह समाचार सुनकर प्रसन्न हुआ और उनका विवाह पृथ्वीदेवीके साथ हो गया । कालान्तरमें रानी पृथ्वीदेवीके एक महा भाग्यशाली और परम रूपवान पुत्र हुआ, जिसका नाम उन्होंने प्रजाबन्धु रक्खा । किन्तु उस नवजात शिशुके साथ एक अदभुत घटना घटित हुई । वह किसी तरह राजघायके हाथोंसे निकलकर नागलोगोंकी पल्लीमें जा पहुँचा ।

नाग-सरदारने उस शिशुको बड़े प्यारसे पाला, पोषा और उसे शस्त्रास्त्रमें निष्णात बना दिया । भारतीय साहित्यमें इन नाग-लोगोंका वर्णन अलंकृत रूपमें है । उसमें इनको बापियों और कुओंमें

* हरि० सर्ग १७ संभवतः निजाम राज्यका अलादुर्ग नामक स्थान इलावर्द्धन नगर है । कहते हैं वहां हजारों जिनमूर्तियां जमादोस्त हैं ।

रहते लिखा है तथा इन्हें सर्प अनुमान किया है । वास्तवमें इसका भाव यही है कि वे मनुष्य थे । विद्वानोंका कथन है कि भारत-वर्षके आदि निवासी असुर जातिसे नागलोगोंका सम्पर्क था । उनका ध्वजचिह्न सर्प था और वे ब्राह्मणोंको मान्यता नहीं देते थे । एक समय वे सारे भारत ही नहीं बल्कि मध्य एशिया तक फैले हुये थे ।

नर्मदा तटपर उनका अधिक आवास था । उनमें जैनधर्मका प्रचार एक अति प्राचीनकालसे था । तामिल देशके शास्त्रकारोंने दक्षिण भारतके प्राचीन निवासियोंमें नाग लोगोंकी गणना की है । ऐतिहासिक कालमें नागराजाओंकी कन्याओंके साथ पल्लववंशके राजाओंके विवाह सम्बन्ध हुए थे । तामिल देशका एक भाग नाग लोगोंकी अपेक्षा नागनादु कहलाता था । जैन पद्मपुराणमें नागकुमार विद्याधरोंका भी उल्लेख है ।

राजा जयंधरके पुत्र इन्हीं नाग लोगोंके एक सरदारके यहां शिक्षित और दीक्षित हुए थे । संभव है, इसी कारण उनका अपर-नाम नागकुमार था । उनका सम्बंध अवश्य नागोंसे रहा था । 'विष्णुपुराण' में नौ नागराजाओंमें भी एक नागकुमार नामक थे । परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि वह हमारे नागकुमारसे अभिन्न थे । नाग लोग अपने रूप सौंदर्यके लिये प्रसिद्ध थे । सुन्दर कन्याको 'नाग-कन्या' कहना लोकप्रचलित रहा है । नागकुमार भी अपने अलौकिक रूपके कारण स्वयं कामदेव कहेगये हैं ।

दक्षिण भारतकी अन्य राजकन्याओंसे उनका विवाह हुआ प्रगट है, परन्तु पल्लव देशकी राजकन्याओंको उन्होंने नहीं व्याहा था । शायद इसका कारण यही हो कि स्वयं नागकन्यायें पल्लवोंको व्याही गई थीं । यह सब बातें कुछ ऐसी हैं जो नाग लोगोंसे नाग-कुमारकी घनिष्टताको ध्वनित करती हैं । होसकता है कि वे नाग वंशज ही हों ।*

जो हो, युवा होनेपर नागकुमार अपने माता-पिताके पास कनकपुर लौट आये और वहां सानंद रहने लगे । किन्तु उनके सौतेले भाई श्रीधरसे उनकी नहीं बनी । भाइयोंकी इस अनबनको देखकर राजा जयधरने थोड़े समयके लिये नागकुमारको दूर हटा दिया । ज्येष्ठ पुत्र श्रीधर था और उसीका अधिकार राज्यपर था । नागकुमार मथुरा जा पहुँचा । वहांके राजकुमारों—व्याल और महा-व्यालसे उसकी मित्रता होगई । उनके साथ नागकुमार दिग्विजयको गया । और बहुतसे देशोंको जीता एवं राजकन्याओंको व्याहा ।

महाव्यालके साथ नागकुमार दक्षिण भारतके किर्तिहन्धमलय देशस्थ मेघपुरके राजा मेघवाहनके अतिथि हुए । राजा मेघवाहनकी पुत्रीको मृदंगवादनमें परास्त करके नागकुमारने उसे व्याहा । फिर मेघपुरसे नागकुमार तोयाबलीद्वीपको गये । वहांसे लौटकर वह पांड्य देश आये थे । पांड्य नरेशने उनकी खूब आवभगत की थी ।

* नाग लोगोंके विषयमें जाननेके लिये हमारी 'भगवान पार्श्व-नाथ' पुस्तक तथा 'णायकुमार चरित' (कारंजा)की भूमिका देखिये ।

उनसे विदा होकर वह आंध्र देश पहुंचे । ऐसे ही घुमते हुये आखिर राजा जयन्धरने उन्हें बुला भेजा और उनका राज्याभिषेक कर दिया ।

नृगकुमार राजाधिराज हुये और नीतिपूर्वक उन्होंने कान्त-विशेष तक राज्यशासन किया । वृद्धावस्थाके निकट पहुंचने पर उन्होंने राज्यभार अपने पुत्र देवकुमारको सौंपा और स्वयं दिगम्बर मुनि हो तपने लगे । न्याल, महाव्याल, अचेय और अछेय नामक राजकुमारोंने भी उनके साथ मुनिव्रत धारण किया था । तपश्चरण द्वारा कर्मोंका नाश करके वे पांचों ऋषिवर अष्टाषद नामक पर्वतसे मोक्षधाम सिधारे थे ।



संक्षिप्त जैन इतिहास ।
(भाग ३ खण्ड १)

ऐतिहासिक काल ।
(प्राचीन खण्ड)

दक्षिण भारतका इतिहास ।

दक्षिण भारतका ऐतिहासिक-काल ।

(प्राचीन खण्ड)

भारतवर्षके इतिहासका प्रारम्भ कबसे माना जाय ? यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसका ठीक उत्तर भारतके इतिहासका आजतक नहीं दिया जासका है । विद्वानोंका इस विषयपर भिन्न मत है । भारतीय विद्वान् आर्य सभ्यताकी जन्मस्थली भारतभूमि मानते हैं और उसके इतिहासका आरम्भ एक कल्पना-तीत समयसे करते हैं । जैन शास्त्र भी इसी मतका प्रतिपादन करते हैं, किन्तु उनके कथनमें यह विशेषता है कि वे भारतभूमिका आदि धर्म जैनधर्म और प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव द्वारा संस्थापित सभ्यताको आदि सभ्यता प्रगट करते हैं । जैन शास्त्रोंके इस कथनका समर्थन आधुनिक ऐतिहासिक खोजसे भी होता है । प्रो० हेल्मुथ फॉन ग्लासनफ़ सट्स यूरोपीय विद्वान् जैनधर्मको ही भारतका सर्व प्राचीन धर्म घोषित करते हैं ।^१ उधर भारतीय पुरातत्त्वसे यह स्पष्ट है कि वैदिक (ब्राह्मण) आर्योंके अतिरिक्त और उनसे पहले भारतवर्षमें एक सभ्य और संस्कृत जातिके लोग निवास करते थे । वे लोग असुर, द्राविड, नाग आदि नामोंसे विख्यात थे और उनमें जैनधर्मका प्रवेश एक अत्यंत प्राचीनकालमें ही होगया था । जैनोके प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव सुर, असुर, नाग आदि द्वारा

पूजित प्राचीन जैन शास्त्रोंमें कहे गये हैं ।^१ और यह हम पहले ही देख चुके हैं कि भारतके आदि निवासी असुर ही वैदिक आर्योंसे प्राचीन मनुष्य हैं जो भारतवर्षमें रहते थे । सिंधु उपत्यकाकी सम्यता उन्हीं लोगोंकी सम्भता थी और वहांकी धर्मउपासना जैन धर्मसे मिलती जुलती थी । किन्तु इस मान्यताके विरुद्ध भी एक विद्वत्समुदाय है, जिसमें अधिकांश भाग यूरोपीय विद्वानोंका है । वे लोग भारतको आर्योंका जन्मस्थान नहीं मानते । उनका कहना है कि वैदिक आर्य भारतमें मध्य एशियासे आये और उन्होंने यहाँके असुर-दास आदि मूल निवासियोंको परास्त करके अपना अधिकार और संस्कार प्रचलित किया ।

इस घटनाको वे लोग आजसे लगभग पांच छै हजार वर्ष पहले घटित हुआ प्रगट करते हैं और इसीसे भारतीय इतिहासका प्रारम्भ करते हैं ।^२ किंतु सिन्धु उपत्यकाका पुरातत्व भारतीय इतिहासका आरम्भ उक्त घटनासे दो-चार हजार वर्ष पहले प्रमा-

१-‘सुर असुर गरुड गहिया, चेह्यरुक्खा जिणवगणं ॥६-१८॥

—समवायाङ्ग सूत्र ।

“एस सुरासुरमणुसिंद, वंदिदं घोदघाइकम्ममळं ।

पणमामि वड्डाणं, तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥”

—प्रवचनसार ।

कर्मान्तकुन्महावीरः सिद्धार्थकुलसंभवः ।

एते सुरासुरौघेण पूजिता विमलत्रिषः ॥ ९ ॥

—देवशास्त्रगुरुपूजा ।

२-अहिं० पृ० ४-२९.

णित करता है । हां, वह अवश्य है कि उस समयका ठीक हाल हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है । उसको ढूँढ निकालनेके लिये समय और शक्ति अपेक्षित है । किंतु यह स्पष्ट है कि भारतीय इतिहासका जो आदिकाल योरुपीय विद्वान मानते हैं वह ठीक नहीं है ।

यह तो हुई समूचे भारतके इतिहासकी बात; परन्तु हमारा सम्बन्ध यहांपर दक्षिण भारतके इतिहाससे **दक्षिण भारतका इतिहास** है । हमें जानना है कि दक्षिण भारतका इतिहास कबसे आरम्भ होता है, और उसमें जैनधर्मका प्रवेश कबसे हुआ ? यह

तो प्रगट ही है कि दक्षिण भारत समूचे भारतसे प्रथक नहीं था और इस दृष्टिसे जो बात उत्तर भारतके इतिहाससे सम्बद्ध है वही बात दक्षिण भारतके इतिहाससे लागू होना चाहिये । साधारणतः यह कथन ठीक है और विद्वान यह प्रगट भी करते हैं कि एक समय सारे भारतमें वे ही द्राविड़ लोग मिलते थे जो उपरांत दक्षिण भारतमें ही शेष रहे ।^१ किंतु दक्षिण भारतकी अपनी विशेषता भी है । वह उत्तर भारतसे अपना प्रथक अस्तित्व भी रखता है और वहां ही आज प्राचीन भारतके दर्शन होते हैं ।^२ मैसूरके चन्द्रहल्ली

१-ऑर्डि०, पृष्ठ २३-“Step by step the Dravidians receded from Northern India, though they never left it altogether.”

२-“India, south of the Vindhyas—the Peninsular India—still continues to be India proper. Here the bulk of the people continue distinctly

नामक स्थानसे मोहन जोदहो जैसी और उतनी प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई। बस, जब हम उसके स्वतंत्ररूपमें दर्शन करते हैं और उसके इतिहासका प्रारम्भिक काल टटोलते हैं तो वहां भी धुँधला प्रकाश ही मिलता है। विद्वानोंका तो कथन है कि दक्षिण भारतके इतिहासका यथार्थ वर्णन दुर्लभ है। सर विन्सेन्ट स्मिथने लिखा था कि 'दूरवर्ती दक्षिण भारतके प्राचीन राज्य यद्यपि घनजन सम्पन्न और द्राविड़ जातिके लोगोंसे परिपूर्ण थे, परन्तु वे इतने अप्रगट थे कि शेष दुनियांको—स्वयं उत्तर भारतके लोगोंको उनके विषयमें कुछ भी ज्ञान न था। भारतीय लेखकोंने उनका इतिहास भी सुरक्षित नहीं रक्खा। परिणामतः आज वहांका ईस्वी आठवीं शताब्दिसे पहलेका इतिहास उपलब्ध नहीं है।' एल्फिन्सटन सा०

to retain their pre-Aryan features; their pre-Aryan languages, their pre-Aryan institutions." —Pillai's Tamil Antiquities. जैनशास्त्रमें भी कहा गया था कि इस कालमें दक्षिणभारतमें ही जैनधर्म जीवित रहेगा। क्या यह उसके प्राचीन रूपका द्योतक है ?

१—"The ancient kingdoms of the far south, although rich and populous, inhabited by Dravidian nations.....were ordinarily so secluded from the rest of the civilised world, including northern India, that their affairs remained hidden from the eyes of other nations and native analysts being lacking, their history previous to the year 800 of the christian era, has almost wholly perished....."

—EHL. p. 7.

ने स्पष्ट लिखा था कि प्राचीनकालमें दक्षिण भारतकी राजनैतिक घटनाओंका सम्बन्धित विवरण लिखा ही नहीं जासकता । आज भी यह कथन एक हदतक ठीक है ।

परन्तु इस दरमियानमें जो ऐतिहासिक खोज और अन्वेषण हुये हैं, उनके आधारसे दक्षिण भारतका एक क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण ईस्वी प्रारम्भिक शताब्दियोंसे लिखा जा सकता है । किंतु वह समय दक्षिण भारतके इतिहासका आरम्भ-काल नहीं कहा जा सकता । भले ही ईस्वी पूर्व शताब्दियोंके दक्षिण भारतका क्रमबद्ध विवरण न मिले, परन्तु उसकी सभ्यता और संस्कृतिके अस्तित्व और अभ्युत्थानका पता बहुत समय पहले तक चलता है । सिंधु उपत्यकाका पुरातत्व और वहांकी सभ्यता द्राविड़ सभ्यतासे मिलती जुलती थी ।^२ चन्द्रहलीका पुरातत्व इसका साक्षी है । सुमेरु जातीय लोगोंसे भी द्राविड़ोंका सादृश्य था । और यह सुमेरु लोग सिंधु-सुवर्ण अथवा सिंधु सुवीर देशके मूल अधिवासी थे । सु-राष्ट्र या सौराष्ट्रसे ही जाकर वे मेसोपोटेमिया आदि देशोंमें बस गये थे । गुजरातके जैनी वणिक इस सु-वर्ण जातिके ही वंशज अनुमान किये जाते हैं ।^३ सिंधु, सुमेरु और द्राविड़-इन तीनों जातियोंकी सभ्यता और संस्कृतिका सादृश्य उन्हें सम-सामायिक सिद्ध करता है । इसलिये द्राविड़ देश अर्थात् दक्षिण भारतका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि सुमेरु जातिका है; बल्कि संभव तो यह

१-Ibid. २-मोद० भा० १ पृ० १०९ । ३-विभा० भा० १८ अंक ९ पृ० ६३१ ।

है कि वह उनसे भी प्राचीन हो क्योंकि सुमेरु लोगोंने भाग्तसे जाकर मेसोपोटेमियामें उपनिवेशकी नींव डाली थी ।

महाराष्ट्र, निजाम हैदराबाद और मद्रास प्रान्तमें ऐसे प्राचीन स्थान मिलते हैं जो प्राग् ऐतिहासिक कालके अनुमान किये गये हैं और वहांपर एक अत्यंत प्राचीन समयके शिलालेख भी उपलब्ध हुये हैं । यह इस बातके सबूत हैं कि दक्षिण भारतका इतिहास ईस्वी प्रारम्भिक शताब्दियोंसे बहुत पहले आरम्भ होता है । उधर प्राचीन साहित्य भी इसी बातका समर्थक है । ताम्रिल साहित्यके प्राचीन काव्य 'मणिमेखलै' और 'सीलप्पद्विकारम्' में एवं प्राचीन व्याकरण शास्त्र 'थोलप्पकियम्' में दक्षिण भारतके खूब ही उन्नत और समृद्धिवाली रूपमें दर्शन होते हैं और यह समय ईसासे बहुत पहलेका था । अतः दक्षिण भारतके इतिहासको उत्तर भारत जितना प्राचीन मानना ही ठीक है !

अब जरा यह देखिये कि दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रवेश कब हुआ ? इस विषयमें जैनियोंका दक्षिण भारतमें जो मत है वह पहले ही लिखा जा चुका है । उनका कथन है कि भगवान् ऋषभदेवके समयमें ही जैनधर्म दक्षिण भारतमें पहुंच गया था । उधर हिन्दू पुराणोंकी साक्षीके आधारसे हम यह देख ही चुके हैं कि देवासुर संग्रामके समय अर्थात् उस प्राचीन कालमें जब भारतके मूल निवासियोंमें ब्राह्मण आर्य अपनी वैदिक सभ्यताका प्रचार कर रहे थे, जैनधर्मका केन्द्र दक्षिण पश्चिमके नर्मदा

तटपर मौजूद था । जैन मान्यता भी इसके अनुकूल है । उसमें नर्मदा तटको एक तीर्थ माना है और वहांसे अनेक जैन महापुरुषोंको मुक्त हुआ प्रगट किया है ।^१ वैसे भी हिंदु पुराणोंके वर्णनसे नर्मदा तटकी सभ्यता अत्यंत प्राचीन प्रमाणित होती है, यद्यपि अभी तक वहांकी जो खुदाई हुई है उसमें मौर्यकालसे प्राचीन कोई वस्तु नहीं मिली है ।^२ होसक्ता है कि नर्मदा तटका वह केन्द्रीय स्थान अभी अप्रगट ही है कि जहां उसकी प्राचीनताकी द्योतक अपूर्व सामग्री भूगर्भमें सुरक्षित हो ।

सारांश यह कि जैन ही नहीं बल्कि प्राचीन भारतीय मान्यतानुसार जैनधर्मका प्रवेश दक्षिणभारतमें एक अत्यन्त प्राचीनकालसे प्रमाणित होता है । परन्तु आधुनिक विद्वज्जन मौर्यकालमें ही जैन धर्मका प्रवेश दक्षिणभारतमें हुआ प्रगट करते हैं ।^३ वे कहते हैं कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहुने जब उत्तरभारतमें बारहवर्षका अकाल होता जाना तो वे संघ सहित दक्षिणभारतको चले आये और उन्होंने ही यहांकी जनताको जैनधर्ममें सर्व प्रथम दीक्षित किया । इसके विपरीत कोई कोई विद्वान् जैनधर्मका प्रवेश दक्षिणभारतमें इससे किंचित् पहले प्रगट करते हैं । उनका कहना है कि जब लंकामें जैनधर्म इस घटनासे पहले अर्थात् ईस्वीपूर्व पांचवी शताब्दिमें ही पहुंचा हुआ मिलता है तो कोई वजह नहीं कि तब

१-नवग्रह अरिष्ट निवारक विधान पृ० ४१ ।

२-‘सरस्वती’ भाग ३८ अंक १ पृष्ठ १८-१९ ।

३-अहिं० पृ० १९४, कैहिं०, पृ० १६९, कलि०, पृ० १८ ।

उसका अस्तित्व दक्षिणभारतमें न माना जावे ।^१ आन्ध्रदेशमें जैन धर्म प्राङ् मौर्यकालसे प्रचलित हुआ प्रगट किया ही जाता है ।^२ किन्तु हमारे विचारसे जैनधर्मका प्रवेश इस कालसे भी बहुत पहले दक्षिणभारतमें होचुका था ।

उपरोक्त साक्ष्योंके अतिरिक्त प्राचीन जैन और तामिल साहित्य तथा पुरातत्व इस विषयमें हमारा समर्थन करते हैं । पहले ही जैन साहित्यको लीजिये ! उसमें बग़ाबर श्री ऋषभदेवके समयसे दक्षिण-भारतका उल्लेख मिलता है, जैसे कि पौराणिक कालके वर्णनमें लिखा जाचुका है । और आगेके पृष्ठोंमें और भी लिखा ज़ायगा । सचमुच जैनोंको लक्ष्य करके जैन ग्रंथोंमें दक्षिणभारतके पल्लवदेश, दक्षिणम-

१—"If this information (of the 'Mahavamsa') could be relied upon, it would mean that Jainism was introduced in the island of Ceylon, so early as the fifth century B. C. It is impossible to conceive that a purely North Indian religion could have gone to the island of Ceylon without leaving its mark in the extreme south of India, unless like Buddhism it went by sea from the north."—Studies in South Indian Jainism,

—Pt. I p. 33.

२-Jainism in the Andhra desh, at least, was probably pre-Mauryan....."

—Ibid., Pt. II. p. 2.

३-रघु० पृ० ६०९ ।

थुरा,^१ पोलासपुर,^२ मदिलै, महाशोकनगर इत्यादि स्थानोंका प्राचीन वर्णन मिलता है। दक्षिणमथुराको स्वयं पाण्डवोंने बसाया था। पल्ल-वदेशमें भगवान् अरिष्टनेमिका विहार हुआ था, जैसे कि हम आगे देखेंगे। ये ऐसे उल्लेख हैं जो दक्षिणभारतमें जैनधर्मके अस्तित्वको भद्रबाहु स्वामीसे बहुत पहलेका प्रमाणित करते हैं।

यही बात तामिल साहित्यसे सिद्ध होती है। तामिल साहित्यमें मुख्य ग्रन्थ “संगम—काल” के हैं, जिसकी तिथिके विषयमें भिन्न मत हैं। भारतीय पंडित उस कालको ईस्वीसन्से हजारों वर्षों पहले लेजाते हैं; किन्तु आधुनिक विद्वान् उसे ईस्वीसन्से चार-पांचसौ वर्ष पहले ईस्वी प्रथम शताब्दितक अनुमान करते हैं।^३ यह जो भी हो, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि ‘संगमकाल’ के ग्रंथ प्राचीन और प्रामाणिक हैं। इनमें ‘तोलकाप्पियम्’ नामक ग्रन्थ सर्व प्राचीन है। इसका रचनाकाल ईस्वीपूर्व चौथी शताब्दि बताया जाता है और यह भी कहा जाता है कि यह एक जैन रचना है।^४ इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जैनधर्मका प्रचार तामिलदेशमें मौर्यकालसे पहले होचुका था। तामिलके प्रसिद्ध काव्य ‘मणिमेखलै’ और ‘सीलप्पडिकारम्’ हैं और यह क्रमशः एक बौद्ध और जैन लेखककी रचनायें हैं। इनमें जैनधर्मका खास वर्णन मिलता है। बौद्धकाव्य ‘मणिमेखलै’ से

-
- १-ज्ञातृवर्म कथांग सूत्र पृ० ६८० व हपु० पृ० ४८७।
 २-अंतगडदशांग सूत्र पृष्ठ २२। ३-अन्तगडदशांग सूत्र पृ० ११।
 ४-भगवती पृष्ठ १९९८। ५-बुसु० (Budhistic Studies)
 पृष्ठ ६७१। ६-बुस्ट०, पृ० ६७४ और जैसाइ० भा० १ पृ० ८९।

स्पष्ट है कि उसके समयमें जैनधर्म तामिल देशमें गहरी जड़ पकड़े हुये था। वहां जैनियोंके विहारों और मठोंका वर्णन पदपदपर मिलता है। जनतामें जैन मान्यताओंका घर कर जाना उसकी बहु प्राचीनताकी दलील है।^१ 'सौलप्यदिकारम्' भी इसी मतका पोषक है।^२

उपलब्ध पुरातत्व भी हमारे इस मतकी पुष्टि करता है कि जैनधर्म दक्षिण भारतमें एक अत्यंत प्राचीनकालमें पहुंच गया था। जैन ग्रन्थ 'करकंडु चरित' में जिन तेरापुर धाराशिव आदि स्थानोंकी जैन गुफाओं और मूर्तियोंका वर्णन है, वे आज भी अपने प्राचीन रूपमें मिलती हैं। उनकी स्थापनाका समय भ० पार्श्वनाथ (ई० पू० ८ वीं शताब्दि) का निकटवर्ती है।^३ इसलिये उन गुफाओं और मूर्तियोंका अस्तित्व दक्षिण भारतमें जैनधर्मका अस्तित्व तत्कालीन सिद्ध करता है।

इसके अतिरिक्त मदुरा और रामनद जिलोंमें ब्राह्मी लिपिके प्राचीन शिलालेख मिलते हैं। इनका समय ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दि अनुमान किया गया है। इनके पास ही जैन मंदिरोंके अवशेष और तीर्थंकरोंकी खंडित मूर्तियां मिली हैं। इसी लिये एवं इनमें अंकित शब्दोंके आधारसे विद्वानोंने इन्हें जैनोंका प्रगट किया है।^४ इसके माने यह होते हैं कि उस समयमें जैनधर्म वहांपर अच्छी तरह प्रचलित होगया था। अलगगरमलै (मदुरा) एक प्राचीन जैन

१-बुष्ट०, पृ० ३ व ६८१। २-साइंजै०, पृ० ९३-९४।

३-अभेरिइं०, भा० १६ प्र० सं० १-२ और करकण्डु चरिय (कारंजा) भूमिका। ४-साइंजै०, भा० १ पृ० ३३-३४।

स्थान था और वहांपर ई० पूर्व तीसरी शताब्दिके लेख पढ़े गये हैं।^१ इन उल्लेखोंसे भी दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी प्राचीनताका समर्थन होता है। निस्सन्देह यदि दक्षिण भारतमें जैन धर्मका अस्तित्व एक अति प्राचीनकालसे न होना तो मौर्यकालमें श्रुतकेवली भद्रबाहु जैन संघको लेकर वहां जानेकी हिम्मत न करते।

हालमें प्रॉ० प्राणनाथने काठियावाड़से मिले हुये एक प्राचीन ताम्रपत्रको पढ़ा है। इसकी लिपि रोमन, सिंधु, सुमेर आदि लिपियोंका मिश्रण है। प्रॉ० सा० इसे बैबीलनक राजा नेबुद्नेजर प्रथम (ई० पूर्व ११४०) अथवा द्वितीय (ई० पूर्व ६००) का बताते हैं।^२ उम ताम्रपत्रका अर्थ उन्होंने निम्नप्रकार प्रकट किया है:—

“रेवानगके राजाका स्वामी, सु....जातिका देव, नेवुश

१—जमोसा० भा० २७ पृष्ठ १२३—१२४।

२—“Dr. Pran Nath, Professor at the Hindu University, Benares, has been able to decipher the copper-plate grant of Emperor Nebuchadnezzar I (circa 1140 B. C.) or II (circa 600 B. C.) of Babylon, found recently in Kathiawar. The inscription is of great historical value, and it shows a peculiar mixture of the characters used by the Romans, The Sindha valley people and the Semites. It may go a long way in proving the antiquity of the Jain religion, since the name of Nemi appears in the inscription.”

—The Times of India, 19th March 1935, p. 9.

दनेज्ज आया है । वह यदुराज (कृष्ण) के स्थान (द्वारिका) आया है । उसने मंदिर बनवाया, सूर्य.....देव नेमि कि जो स्वर्ग समान रेवतपर्वतके देव हैं (उनको) इमेशाके लिये अर्पण किया ।”

“जैन” भाग ३५ अंक १ पृष्ठ २ ।

इसमें गिरनार (रेवत) पर्वतके देवरूपमें ‘नेमि’ का उल्लेख हुआ है और यह प्रगट ही है कि ‘जैन तीर्थंकर नेमिनाथ गिरनार (रेवत) पर्वतसे निर्वाण सिद्धारे थे । वह रेवत पर्वतके देव हैं । साथ ही अन्यत्र यह अनुमान किया गया है कि गुजरातके जैनी वणिक ‘सु’ जातिके हैं ।” अतः इस ताम्रपत्रमें जैनधर्मकी प्राचीनता सिद्ध होती है । परन्तु इसमें खास बात हमारे विषयकी यह है कि नेवुश दनेज्ज को रेवा नगरका स्वामी कहा है । इससे प्रतीत होता है कि उसका राज्य भारतमें भी था, क्योंकि रेवा नगर दक्षिण भारतमें अवस्थित होसकता है । प्राचीन प्राकृत ‘निर्वाणकांड’ में भारतकी दक्षिण दिशामें स्थित रेवानदी सिद्धवाकूटका उल्लेख है । होसकता है कि उक्त रेवा नगर वहीं रेवानदीके निकट हो । इन दृश्योंमें यह ताम्रपत्र दक्षिण पथमें जैनधर्मके अस्तित्वको अति प्राचीनकालमें प्रगट करता है ।

उपर्युल्लिखित वार्ताको ध्यानमें रखते हुये यह मानना अनुचित नहीं है कि दक्षिण भारतमें जैन-
ऐतिहासिक काल । धर्मका इतिहास एक अत्यंत प्राचीन-
कालसे प्रारम्भ होता है । उसके पौरा-
णिककालका वर्णन पूर्व पृष्ठोंमें लिखा जा चुका है । अब ऐतिहासिक

दक्षिण भारतका ऐतिहासिक काल । [६७]

कालके वर्णनमें उसका प्राचीन इतिहास लिखना अभीष्ट है । इसे हम भगवान् अरिष्टनेमिके वर्णनसे प्रारम्भ करेंगे और भ० महावीरके उपरांत उसके दो भाग कर देंगे, क्योंकि सुदूर दक्षिण भारतकी ऐतिहासिक घटनायें विन्ध्याचलके दक्षिणस्थ निकटवर्ती भारतसे भिन्न रही हैं । पहले 'दक्षिणापथ' का ऐतिहासिक वर्णन निम्नलिखित छः कालोंमें विभक्त होता है—

(१) आन्ध्रकाल—ईस्वी पांचवीं शताब्दि तक ।

(२) प्रारम्भिक चालुक्य—(ईस्वी ५ वींसे ७वीं शताब्दि)
एवं राष्ट्रकूट काल (७वींसे १३ वीं शताब्दि तक)

(३) अन्तिम चालुक्य काल—(१० वींसे १४वीं श०)

(४) विजयनगर साम्राज्य काल ।

(५) मुसलमान मराठा काल ।

(६) और ब्रिटिश राज्य ।

इसीके अनुसार सुदूरवर्ती दक्षिण भारतके निम्नलिखित छै काल होते हैं:—

(१) प्रारम्भिक काल—ईस्वी पांचवीं शताब्दि तक ।

(२) पल्लव काल—ईस्वी ५ वींसे ९ वीं शताब्दि तक ।

(३) चोल प्राधान्य काल—ई० ९वींसे १४वीं श० तक ।

(४) विजयनगर साम्राज्य काल—ई० १४वींसे १६ वीं शताब्दि तक ।

(५) मुसलमान-मराठा काल—ई० १६ वींसे १८ वीं शताब्दि तक ।

(६) ब्रिटिश राज्य—(उपरांत)

प्रस्तुत 'प्राचीन खण्ड' में हम दोनों भागोंके पहले कालों तकका इतिहास लिखनेका प्रयत्न निम्न पृष्ठोंमें करेंगे। अवशेष कालोंका वर्णन आगेके खण्डोंमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जायगा। आशा है, जैन साहित्य संसारके लिये हमारा यह उद्योग उपयोगी सिद्ध होगा।



आरंभिक-इतिहास ।

भगवान् अरिष्टनेमि, कृष्ण और पाण्डव ।

उत्तर भारतके क्षत्रिय वंशोंमें हरिवंश मुख्य था। इस वंशके राजाओंका राज्य मथुरामें था, यद्यपि यादव वंश। इनके आदि पुरुष मगधकी ओर राज्य करते थे। हरिक्षेत्रका आर्य नामक एक विद्याधर अपनी विद्याधरीके साथ आकाशमार्ग द्वारा चम्पानगरमें पहुंचा था। उस समय चम्पानगर अपने राजाको खोनेके कारण अनाथ हो रहा था। विद्याधर आर्य चम्पाका राजा बन बैठा। उसका पुत्र हरि हुआ, जो बड़ा पराक्रमी था। उसने अपने राज्यका खूब विस्तार किया। उसीके नामकी अपेक्षा उसका वंश 'हरि' नामसे प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि यह राजालोग विदेशी विद्याधर थे; परन्तु फिर भी उनको शास्त्रकारोंने क्षत्रिय संभवतः इसलिये लिखा है कि विद्याधरोंके आदि राजा नमि-विनमि भारतसे गये हुये क्षत्रिय पुत्र थे।

धीरे-धीरे इस वंशके राजाओंने अपना अधिकार मगध पर जमा लिया और वहाँ इस वंशमें राजा सुमित्रके सुपुत्र तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ जन्मे थे । मुनिसुव्रतनाथ स्वपुत्र सुव्रतको राज्य देकर धर्मचक्रवर्ती हुये थे । सुव्रतके उपरांत इस वंशमें अनेक राजा हुये और वे नाना देशोंमें फैल गये । उनमें राजा वसुका पुत्र बृहदध्वज मथुरामें आकर राज्याधिकारी हुआ और उसकी सन्तान वहां सानंद राज्य करती रही । तीर्थङ्कर नमिके तीर्थमें मथुराके हरिवंशी राजाओंमें यदु नामका एक तेजस्वी राजा हुआ ।

यह राजा इतना प्रभावशाली था कि आगे हरिवंश इसीके नामकी अपेक्षा ' यादव वंश ' के नामसे प्रसिद्ध होगया । राजा युदुके दो पोते शूर और सुवीर उसीकी तरह पराक्रमी हुये । सुवीर मथुराका राजा हुआ और शूरने कुशघदेशमें शौर्यपुर बसाकर वहां अपना राज्य स्थापित किया । अंघकवृष्णि आदि इनके अनेक पुत्र थे । सुवीरके पुत्र भोजकवृष्ण आदि थे ।

सुवीरने मथुराका राज्य उनको दिया और स्वयं सिंधुदेशमें सौवीरपुर बसाकर वहांका राजा हुआ । अंघकवृष्णिके दश पुत्र थे, अर्थात् समुद्रविजय, अक्षयोभय, स्तिमित, सगर, हिमवन, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र और वासुदेव । इनकी दो बहिनें कुन्ती और मद्रौ थीं, जो पाण्डु और दमघोषको ज्वाहीं बई थीं ।

कृष्ण वासुदेव और देवकीके पुत्र थे और वही उस समय यादवोंमें प्रमुख राजा थे । पाण्डुराज हस्तिनापुरमें राज्य करते थे, और उनकी सन्तान पाण्डव नामसे प्रसिद्ध थी । कृष्णके भाई बलभद्र थे ।

शौर्यपुरमें राजा समुद्रविजय रहते थे । उनकी रानीका नाम शिवादेवी था । उन्होंने कार्तिक कृष्ण तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि । द्वादशीको अन्तिम रात्रिमें सुन्दर सोलह स्वप्न देखे; जिनके अर्थ सुननेसे उनको विदित हुआ कि उनके बावीसवें तीर्थङ्कर जन्म लेंगे । दम्पति यह जानकर अत्यन्त हर्षित हुये । आखिर श्रावण शुक्ला पंचमीको शुभ मुहूर्तमें सती शिवादेवीने एक सुंदर और प्रतापी पुत्र प्रसव किया ।

देवों और मनुष्योंने उसके सन्मानमें आनन्दोत्सव मनाया । उनका नाम अरिष्टनेमि रक्खा गया । अरिष्टनेमि युवावस्थाको पहुंचते-पहुंचते एक अनुपम वीर प्रमाणित हुये । मगधके राजा जरासिंधुसे यादवोंकी हमेशा लड़ाई ठनी रहती थी । अरिष्टनेमिने अपने भुज विक्रमका परिचय इन संग्रामोंमें दिया था ।

जरासिंधुके आये दिन होते हुये आक्रमणोंसे तंग आकर यादवोंने निश्चय किया कि वे अपने चचेरे भाई सुवीरकी नाईं सुराष्ट्रमें जा रमे । उन्होंने किया भी ऐसा ही । सब यादवगण सुराष्ट्रको चले गये गये और वहां समुद्रतटपर द्वारिका बसाकर राज्य करने लगे ।

इस प्रसंगमें सु-राष्ट्रके विषयमें किंचित् लिखना अनुपयुक्त नहीं है । मालूम ऐसा होता है कि सु-राष्ट्रका परिचय । यादवोंका सम्बन्ध सु-जातिके लोगोंसे था; जिन्हें सु-मेर कहा जाता है और जो मध्य एशियामें फैले हुये थे । किन्तु मूलमें वे भारतवर्षके ही

निवासी थे; यही कारण है कि उनके निवासकी मूल भूमि काठियावाड़ 'सु-वर्णा' अथवा 'सु-राष्ट्र' नामसे विख्यात थी । 'महाभारत' में 'सिन्धु-सुवर्णा-प्रदेश' और जातिका उल्लेख है ।^१ 'सु-वर्णा' का अर्थ 'सु' जाति होता है ।

जैन शास्त्रोंमें 'सिन्धु-सौवीर' देशका उल्लेख हुआ मिलता है ।^२ सौवीर देश अपनी प्रमुख नगर सौवीरपुराके कारण ही प्रख्यातिमें आया प्रतीत होता है जिसे यादवराजा सुवीरने स्थापित किया था ।^३ सुवीरका अर्थ 'सु'जातिका वीर होता है । इनके पहले और उपरान्त काठियावाड़का उल्लेख 'सु-राष्ट्र' नामसे जैन शास्त्रोंमें भी हुआ है ।^४ इन सु-वीर लोगोंकी सभ्यताका सादृश्य सिंधु उपत्यकाकी सभ्यतासे था ।

भारतीय विद्वानोंका मत है कि सु-जातीय (Sumerian) सभ्यताका विकास सिंधु सभ्यतासे हुआ था । सु-जातिके लोग सुगण्डसे ही जाकर मेसोपोटेमियामें बसे थे ।^५ जैन शास्त्रोंमें हमें एक प्रसंग मिलता है जिसमें कहा गया है कि कच्छ-महाकच्छके

१-“विशाल भारत” भा० १८ अंक ५ पृष्ठ ६२६में प्रकाशित “सुमेर-सभ्यताकी जन्मभूमि भारत” शीर्षक लेख देखना चाहिये ।

२-भगवती सूत्र पृ० १८६३ (सिंधुसोवीरसु जणवरसु) व हरि० ३-३-७; ११-६८ इत्यादि ।

३-Lord Aristanemi, p. 37.

४-हरि० ११-६४-७६ व ४९-१४; आक० १-१००; नाच० १-१५-७; कच० ३-५-६ ।

५-“विशालभारत” भा० १८ अंक ५ ।

पुत्र नमि—विनमिको नागराज धरणेन्द्र अपने साथ ले गया था और उन्हें विद्याधरोंका राजा बनाया था । उन्हींकी सन्तान विद्याधर नामसे मध्य ऐशिया आदिमें फैल गये थे । यादवोंके पूर्व पुरुष भी विद्याधर थे ।

उपर्युल्लिखित विद्याधरोंके पूर्वज नमि—विनमि कच्छ महाकच्छ अथवा सुकच्छके पुत्र थे, जिसका अर्थ यह होता है कि उनका आवास भी सुगष्ट (काठियावाड़) था । उनके पिता कच्छ महाकच्छ देशके प्रमुख निवासी होनेके कारण ही उस नामसे प्रसिद्ध हुये प्रतीत होते हैं ।^२ और कच्छ महाकच्छ अथवा सुकच्छ देश आजकलके कच्छ देशके पास अर्थात् सिंधु-सुवर्ण आदि ही होना चाहिये । इससे भी यही ध्वनिज होता है कि सुगष्टमे ही सुजातिके लोग मध्य ऐशिया आदि देशोंमें जा रहे थे । सुमेर अथवा सुजातिके राजाओंके नाम भी प्रायः वे ही मिलते हैं जो कि भारतके सूर्य-वंशी राजाओंके हैं ।

सुमेर राजाओंकी किशवंशावलीमें इक्ष्वाकु, विकुक्षि (जिनके भाई निमि थे), पुरंजय, अनेतु (नक्ष), सगर, ग्नु, दशरथ और रामचंद्रके नाम मिलते हैं ।

१—आपु० सर्ग १८ श्लो० ९१-९२ व हरि० सर्ग ९ श्लो० १२७-१३० ।

२—‘सु-कच्छ’ नाम क्या उन्हें ‘सु’ जातिसे सम्बन्धित नहीं प्रगट करता ? ‘उत्तरपुराण’ (पर्व ६६ श्लोक ६७) में एक ‘सुकच्छ’ नामक देशका स्पष्ट उल्लेख है । इस देशके निवासी सु-जातीय होनेके कारण महाकच्छ सुकच्छ नामसे प्रसिद्ध हुए प्रतीत होते हैं ।

यदि ऋषभदेवको इक्ष्वाकु माना जाय जिनसे नमि विनमिने राज्यकी याचना की थी, तो किश्र वंशके विकुक्षि और उनके भाई निमि जैन शास्त्रके नमि विनमि अथवा सुकच्छके पुत्र विकच्छ हो सकते हैं ।

उधर बैबीलनके राजाने बुशदनेजर अपनेको 'सु'जातिका देव (=नरपति) और रेवा नगरके राज्यका स्वामी लिखता ही है, जिसे हम दक्षिण भारतमें अनुमान कर चुके हैं । यह राजा अपने दान-पत्रमें यदुराज (कृष्ण) की राजधानी द्वारिकामें आनेका विशेष उल्लेख करता है और रैवत पर्वतसे निर्वाण पाये हुए भ० नेमिके सम्मानमें एक मंदिर बनवाकर उन्हें अर्पण करनेमें गौरव अनुभव करता है ।

इससे स्पष्ट है कि यदुराजके प्रति उसके हृदयमें सम्मान ही नहीं बल्कि प्रेम था । उसका कथन ऐसा ही भासता है जैसे कि कोई नया आदमी अपने पूर्वजोंकी जन्मभूमिपर पहुंचकर हर्षोद्गार प्रगट करता हो ।

यादवोंका मथुरा छोड़कर सुराष्ट्रमें आना भी उनको सुजातिसे सम्बंधित प्रगट करता है । क्योंकि आबत्तिके समय अपने ही लोगोंकी मद आती है । मथुरामें जरार्सिंधुसे दुःखी होकर यादव सुराष्ट्रमें आये, इसका अर्थ यही है कि उनको सुराष्ट्रासिंधोपर विश्वास था—वे उनके आशा भरोसा थे । उनके एक पूर्वज ही—सुवीर नामसे प्रसिद्ध हुये ही थे और उधर सुजातिके नृप यदुराजके प्रति प्रेम और विनय प्रगट करते हैं ।

इस सब वर्णनसे यह स्पष्ट है कि यादवोंका सुराष्ट्रवासियोंसे विशेष सम्बन्ध था और मध्य एशियाके सुमेर राजा भी उन्हींके सजातीय थे । जैन शास्त्रोंमें कहा गया है कि कृष्णका राज्य वैताळ्य पर्वतसे समुद्र पर्यन्त विस्तृत था । यह वैताळ्य पर्वत ही विद्याधरोंका आवास और नमिविनमिके राज्याधिकारमें था ।

इससे स्पष्ट है कि कृष्णके साम्राज्यमें मध्य-एशिया भी गर्भित था । प्राचीन भारतका आकार उतना संकुचित नहीं था, जैसा कि वह आज है । उसमें मध्य एशिया आदि देश सम्मिलित थे ।^२ सिन्धु और सुमेर सभ्यताओंके वर्णनसे ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक समय मध्यएशिया तक एक ही जातिके लोगोंका आवास-प्रवास था ।

पूर्वोल्लिखित दानपत्रमें सुमेरनृप नेवुशदनेजर अपनेको रेवा-नगरका स्वामी लिखता है जो दक्षिण भारतमें रेवा (नर्मदा) तटपर होना चाहिये । इससे प्रगट है कि नर्मदासे लेकर मेसोपोटेमिया तक उसका राज्य विस्तृत था । एक राज्य होनेके कारण वहांके लोगोंमें परस्पर व्यापारिक व्यवहार और आदान-प्रदान होता था । यही कारण है कि भारतीय सभ्यता जैसी ही सभ्यता और सिके एवं वैलीप मध्यएशियाके लोगोंमें भी तब प्रचलित थी ।

एक विद्वानका कथन है कि इन सु-जातिके लोगोंके धर्ममेंसे जैनधर्म उत्पन्न हुआ और गुजरात तथा सुराष्ट्रके जैन वणिक इन्हीं

१-ज्ञातृधर्मकथाङ्गसूत्र (हैदराबाद) पृ० २२९ व हरि० पृष्ठ ४८१-४८२ । २-"सरस्वती" भाग ३८ अंक १ पृष्ठ २३-२४ ।

सु-वर्ण और जैनधर्म ।

लोगोंके वंशज हैं।^१ निःसन्देह यह कथन सत्यांशको लिये हुये है; क्योंकि इसका अर्थ यही हो सकता है कि सु-राष्ट्रावासी नमि-विनमिने भगवान् ऋषभका धर्म-ग्रहण करके उसका प्रचार अपने विद्याधर जातिके लोगोंमें किया था, जो उपगन्त मध्य एशियामें बहुतायतसे मिलते थे । मध्य एशियाकी जातियोंमें जैनधर्मका सद्भाव था । यह हम अन्यत्र प्रगट कर चुके हैं।^२ उधर यह प्रगट है कि सुगष्ट जैनधर्मका केन्द्र रहा है ।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके पुत्रोंके अधिकारमें सिन्धु-सुवीर और सुगष्ट थे । अन्तमें वे मुनि होगये थे और उन्होंने जैनधर्मका प्रचार किया था । उनके पश्चात् भी सुगष्टमें जैनधर्मके अस्तित्वका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है ।^३ स्वयं एक तीर्थंकरने सुगष्टमें तपस्या और धर्मप्रचार किया था । इससे सुगष्ट और वहाँके निवासियोंमें जैनधर्मकी मान्यता स्पष्ट है ।

हाँ, तो इस सु-राष्ट्रमें आकर यादवगण बस गये । द्वारिका उनकी राजधानी हुई और कृष्ण उनके
भ० अरिष्टनेमिका राजा । तीर्थंकर अरिष्टनेमि कृष्णके
विवाह । चचेरे भाई थे । उन्होंने राजकुमारी राजुलके साथ अरिष्टनेमिका विवाह कर

१-“विशाल भारत” भा० १८ अंक ५ पृष्ठ ६३१ । २-“भगवान् पार्श्वनाथ” पृ० १४०-१७८ । ३-हरि० सर्ग १३ श्लोक ६४-७६ । ४-हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण आदि ग्रंथ देखो ।

देना निश्चित किया । अरिष्टनेमि दूरहा बने—बारातके बाजा बजे और ध्वजा निशान उड़े । परन्तु अरिष्टनेमिका विवाह नहीं हुआ । उन्होंने किन्हीं पशुओंको भुखण्डाससे छटपटाते हुये बाढ़में बन्द देखा । इस करुण दृश्यने उनके हृदयको गहरी चोट पहुँचाई । उनका कोमल हृदय इस अदयाको सहन न कर सका । पशुओंको उन्होंने बन्धन मुक्त किया; परन्तु इतनेसे ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ ।

उन्होंने सोचा संसारके सब ही प्राणी प्रारब्ध और यमदूतके चुंगलमें फंसे हुये शरीरबन्धनमें पड़े हुये हैं—वह स्वयं भी तो स्वाधीन नहीं है ! क्यों न पूर्ण स्वाधीन बना जाय ? यही सोच—समझकर अरिष्टनेमिने वस्त्राभूषणोंको उतार फेंका । पालक्रीसे उतर कर वह सीधे रैवतक (गिरिनार) पर्वतकी ओर चल दिये । वहाँ उन्होंने श्रावण शुक्ल षष्ठीको दिगम्बर मुद्रा धारण करके तपस्या करना आरम्भकी । घोर तपश्चरणका सुफल केवलज्ञान उन्हें नसीब हुआ । गिरिनार पर्वतके पास सहस्राश्र्वनमें ध्यान माड़कर उन्होंने घातिवा कर्मोंका नाश अश्विन कृष्ण अमावस्याके शुभ दिन किया ।

अब अरिष्टनेमि साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थंकर होगये । देव और मनुष्योंने उन्हें मस्तक नमाया और उनका धर्मोद्देश चावसे सुना । सभा सम्मेलन उनका प्रमुख शिष्य हुआ । कुमारी राजुल भी साध्वी होकर आर्यिकाओंमें अग्रणी हुई ।

एक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तार्थकरके रूपमें भगवान् अरिष्टनेमिने नानादेशोंमें विहार करके धर्म-प्रचार किया ।

भगवान्का 'हरिवंश पुराण' में लिखा है कि भगवान् **विहार ।** अरिष्टनेमिने क्रमसे सोःठ (सुःराष्ट्र),

लाटोरु, शूरसेन, पाटञ्चल, कुरुजांगल, पांचाल, कुशाग्र, भगध अजन, अंग, बंग कर्लिंग आदि देशोंमें विहार किया था ।^१

इस विहारमें भगवान्का शुभागमन मलयदेशके भद्रिलपुरमें भी हुआ । वहांके राजा पौंड्रने भक्तिपूर्वक भगवान्की वन्दना की । वहीं सेठ सुदृष्टिके यहां कृष्णकी रानी देवकीके छै युगलिया पुत्र रहते थे । वे भी भगवान्की वन्दना करने आये और धर्मोपदेश सुनकर मुनि हो भगवान्के साथ होलिये ।^२ आगे भगवान्का विहार पल्लवदेशमें भी हुआ । उस समय दक्षिण मथुरामें पांचों पाण्डव रह रहे थे । उन्होंने जब यह सुना कि भगवान् अरिष्टनेमि वहां आये हैं तो उन्होंने जाकर भगवान्की वन्दना की ।^३ इसप्रकार भगवान्ने दक्षिणके देशोंमें विहार किया । पल्लवदेशमें वे कईवार पहुँचे थे । उनके इसप्रकार धर्मप्रचार करनेसे दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी प्रगति खूब हुई थी ।

उधर अपने चचेरे भाई अरिष्टनेमिके मुनि हो जानेके पश्चात् कृष्ण लोटकर द्वारिका गये और वहां सानन्द राज्य करने लगे ।

१-पृष्ठ ९९४ । २-हरि० पृ० ९९४ । ३-हरि० सर्ग ६३ श्लोक ७६-७७ ।

देना निश्चित किया । अरिष्टनेमि दूरहा बने—बारातके बाजा बजे और ध्वजा निशान उड़े । परन्तु अरिष्टनेमिका विवाह नहीं हुआ । उन्होंने किन्हीं पशुओंको भूखप्याससे छटपटाते हुये बाड़ेमें बन्द देखा । इस करुण दृश्यने उनके हृदयको गहरी चोट पहुँचाई । उनका कोमल हृदय इस अदयाको सहन न कर सका । पशुओंको उन्होंने बन्धन मुक्त किया; परन्तु इतनेसे ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ ।

उन्होंने सोचा संसारके सब ही प्राणी प्रारब्ध और यमदूतके चुंगलमें फंसे हुये शरीरबन्धनमें पड़े हुये हैं—वह स्वयं भी तो स्वाधीन नहीं है ! क्यों न पूर्ण स्वाधीन बना जाय ? यही सोच—समझकर अरिष्टनेमिने वस्त्राभूषणोंको उतार फेंका । पालकीसे उतर कर वह सीधे रैवतक (गिरनार) पर्वतकी ओर चल दिये । वहां उन्होंने श्रावण शुक्ल षष्ठीको दिगम्बर मुद्रा धारण करके तपस्या करना आरम्भकी । घोर तपश्चरणका सुफल केवलज्ञान उन्हें नसीब हुआ । गिरिनार पर्वतके पास सहस्राव्रतनमें ध्यान माड़कर उन्होंने घातिबा कर्मोंका नाश अश्विन कृष्ण अमावस्याके शुभ दिन किया ।

अब अरिष्टनेमि साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थंकर हो गये । देव और मनुष्योंने उन्हें मस्तक नमाया और उनका धर्मोद्देश चावसे सुना । राजा वसुधाय अनेक प्रमुख शिष्य हुआ । कुमारी राजुल भी साध्वी होकर आर्यिकाओंमें अग्रणी हुई ।

एक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तार्थकरके रूपमें भगवान् अरिष्टनेमिने नानादेशोंमें विहार करके धर्म-प्रचार किया ।

भगवानका 'हरिवंश पुराण' में लिखा है कि भगवान् **विहार** । अरिष्टनेमिने क्रमसे सोठ (सुराष्ट्र),

लाटोरु, शूरसेन, पाटच्च, कुरुजांगल, पांचाल, कुशाग्र, भगध अंजन, अंग, बंग कर्लिंग आदि देशोंमें विहार किया था ।^१

इस विहारमें भगवान् का शुभागमन मलयदेशके भद्रिलपुरमें भी हुआ । वहांके राजा पौंड्रने भक्तिपूर्वक भगवानकी वन्दना की । वहीं सेठ सुदृष्टिके यहां कृष्णकी रानी देवकीके छै युगलिया पुत्र रहते थे । वे भी भगवानकी वन्दना करने आये और धर्मोपदेश सुनकर मुनि हो भगवानके साथ होलिये ।^२ आगे भगवान् का विहार पल्लवदेशमें भी हुआ । उस समय दक्षिण मथुरामें पांचों पाण्डव रह रहे थे । उन्होंने जब यह सुना कि भगवान् अरिष्टनेमि वहां आये हैं तो उन्होंने जाकर भगवानकी वन्दना की ।^३ इसप्रकार भगवानने दक्षिणके देशोंमें विहार किया । पल्लवदेशमें वे कईवार पहुंचे थे । उनके इसप्रकार धर्मप्रचार करनेसे दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी प्रगति खूब हुई थी ।

उधर अपने चचेरे भाई अरिष्टनेमिके मुनि हो जानेके पश्चात् कृष्ण लोटकर द्वारिका गये और वहां सानन्द राज्य करने लगे ।

जब भगवान् अरिष्टनेमि केवलज्ञानी हुये, तब वह उनकी वन्दना करने आये । उनके साथ अनेक यादवगणने तीर्थंकर अरिष्टनेमिका शिष्यत्व ग्रहण किया था । उपरान्त श्री कृष्णने दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया । और अपने अतुल पौरुषसे सारे दक्षिणभारत क्षेत्रको विजय किया । इसके पश्चात् कृष्णने आठ वर्षतक खूब भोग भोगे और अन्य राजाओंको वश किया । उपरान्त उन्होंने 'कोटिशिला' उठानेके लिये गमन किया । और उसे उठाकर अपने शारीरिक बलका परिचय जगतको करा दिया । यहांसे वह द्वारिका आये और वहां उनका राज्याभिषेक हुआ । अब कृष्ण राजगजेश्वर बनकर नीतिपूर्वक राज्य करते रहे ।^१

उधर हस्तिनापुरमें पांडव सानंद रह रहे थे कि उसका विरोध कौरवोंसे हुआ । युधिष्ठिर शान्तिप्रिय पञ्च पाण्डव । थे । उन्होंने इस विरोधको भेटनेका उद्योग किया । परन्तु यह गृहाग्नि शांत न हुई । कौरवोंने दुष्टताको ग्रहण किया । उन्होंने पांडवोंको लासामारमें जला डालनेका उद्योग किया, परन्तु वे सुरंगके रास्तेसे भाग निकले । हस्तिनापुरसे चलकर पांचों पांडव और कुन्ती दक्षिण भारतमें पहुंचे । वहाँ उधर ही विचरते रहे और उस ओरके राजाओंसे उन्होंने विवाह सम्बन्ध किये ।

१-हरि० सर्ग ५३, कोटिशिला दक्षिण भारतमें ही कहीं अब-स्थित थी । श्रीमान् ब० सीतलप्रसादजीने इसे कलिंगदेशमें कहीं चीन्हा है ।

अर्जुनका व्याह काम्पिल्य नगरके राजा द्रुपदकी राजकुमारी द्रौपदीसे पहले ही होचुका था ! आखिर पांडव दक्षिण मथुरा बसा कर वहीं राज्य करने लगे थे ।^१ आज भी पांडवोंके स्मारकरूपमें दक्षिण भारतमें ' पांडव मलय ' आदि स्थान मिलते हैं ।^२

एक दफा जब भगवान् अरिष्टनेमि गिरनार पर्वतपर विराजमान थे, श्रीकृष्ण सपरिवार उनकी वन्दना करने गये । वन्दना करके उन्होंने तीर्थंकर भगवान्से पूछा कि द्वारिकाका भविष्य

क्या है ? भगवान्ने उत्तरमें बताया कि द्वारिकाका नाश द्वीपायन मुनिके निमित्तसे होगा । उद्धत यादव युवक मदमत्त हो द्वीपायन मुनिको छेड़ेंगे और उनकी कोपाम्निमें सारे यादवों सहित द्वारिका भस्म होजायगी—केवल कृष्ण और बलराम शेष रहेंगे । वे दोनों निराश होकर दक्षिण मथुराकी ओर पांडवोंके पास जायेंगे कि रास्तेमें कौशांबवनके मध्य जरत्कुमारके बाणसे कृष्णका स्वर्गवास होगा ।^३

तीर्थंकरके मुखसे यह भविष्यवाणी सुनकर यादवगण भयभीत होगये और उन्होंने द्वारिकाकी रक्षाके लिये सतत् उपाय किये । परन्तु भावी अमिट थी । द्वारिकाका नाश द्वीपाइनकी क्रोधाग्निसे

१-हरि० सग ४९ व ५४ । २-ममैत्रेस्मा०, पृ० ६२.... ।

३-'तत्तेणं अग्हा अरिष्टनेमी वण्ह वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु कण्ह ! तुमं बारवतिण् णयरीए सुखिणी दीवायणे को विनिट्ठाए अम्मापियरो णि गगवि पड्डणे रामेणं बलदेवेण सद्धि दाहिणे वेयोळि-यभिमुहे जुं छेड्डळ पामोकखाणं पंचाहं पंडवणं पंडूराय पुत्ताणं पासं पंडुनहुरं सपत्तियते कोसंय काणणेणं नगोह्वर पायस्स अहे पुटविसि-टापट्टर विट्ठए च्छाड्य सरीरे....इत्यादि ।

हुआ । कृष्ण और बलराम ही उस प्रलयंकारी अग्निसे बच पाये । वे दक्षिण मथुराको चले कि घोखेसे जरत्कुमारके बाणने कृष्णकी जीवनलीला समाप्त करदी । बलराम आतृमोहमें पागल होगये ।

पांडवोंने जब सुना तो वे बलरामके पास आये और उनको सम्बोधा । तब बलरामने शृङ्गी पर्वतपर कृष्णके शवका अग्निसंस्कार किया और वहीँ मुनि हो बह तप तपने लगे । उस समय भगवान् नेमिनाथ पल्लव देशमें विहार कर रहे थे । पांडव सपरिवार वहीँको प्रस्थान कर गये ।

पल्लवदेशमें विहारे भगवान् अरिष्टनेमिके समवशरणमें पहुंचकर पाण्डवों और उनकी रानियोंने भगवान्की **निर्वाण ।** वन्दना की और उनसे धर्मोद्देश सुना । सबने अपने पूर्वभव उनसे पूछे; जिनको सुनकर वे सब संपारसे भयभीत होगये । युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डवोंने तत्क्षण भगवान्के चरणकमलोंमें मुनिव्रत धारण किये । कुंती, द्रौपदी आदि रानियां भी राजमती आर्यिकाके निकट साध्वी होगई । इसप्रकार सब ही सन्यस्त होकर तप तपनेमें लीन होगए ।

अब भगवान् अरिष्टनेमिका निर्वाणकाल समीप आरहा था । इसलिये वे पल्लवदेशसे चलकर उत्तरदिशामें विहार करते हुए गिरिनार पर्वतपर आ विराजे । उनके साथ संघमें पाण्डवादि भी आये । गिरिनार पर्वतपर आकर भगवान् अरिष्टनेमिने निर्वाणकालसे एक मास पूर्वतक धर्मोद्देश दिया । यह उनका अंतिम प्रवचन था ।

उपरान्त एक मास पहलेसे उन्होंने योगोंका निरोध किया । और अघातिया कर्मोंका नाश कर वे मुक्त होगये । उस समय समुद्र-विजय, शत्रु, प्रद्युम्न आदि भी गिरिनारसे मोक्ष गये थे । इस पुनीत घटनाके हर्षमें देवोंने आनन्दोत्सव मनाया था । इन्द्रने गिरिनार पर एक सिद्धशिला निर्मापी, जिसपर भगवान् नेमिनाथके समस्त लक्षण अंकित कर दिये ।

इस प्रकार भगवानको मुक्त हुआ जानकर पांचों पाण्डव शत्रुंजय पर्वतपर जा बिराजे । वहां उन्होंने गहन ध्यान माड़ा । उस ध्यान अवस्थामें उनपर कौरव वंशके युधामन्यु नामक दुष्टने घोर उपसर्ग किया । उसने लोहेके कड़े, मुकुट आदि बनाये और उन्हें अग्निमें तपाकर पाण्डवोंको पहिना दिये, जिससे उनके शरीर अवयव बुरी तरह जल गये । परन्तु साधु पाण्डवोंने इस उपसर्गको सम भावोंसे सहन किया । युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन उसी समय मुक्त हो सिद्ध परमात्मा हुये । मुनिराज नकुल और सहदेव भाइयोंके मोहमें किञ्चित् फंसे गये । इसलिए वे मरकर सर्वार्थसिद्धि विमानमें अहिमिन्द्र हुये । बलमद भी ब्रह्मस्वर्गमें देव हुये ।^१

उपरान्त यादवोंमें केवल जरत्कुमार शेष रहे और उन्होंने यादवोंकी वंशपरम्परा जीवित रही । जरत्कुमार कलिङ्गदेशमें जाकर राज्य करने लगे और वहीं उनकी सन्तान राज्याधिकारी हुई थी ।

यहां यह पक्ष निरर्थक है कि क्या भगवान्-अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक महापुरुष थे ? पूर्वोद्धिखित सम्राट् भ० अरिष्टनेमि ने बुद्धदेवज्जर्क दानपत्रमें उनका स्मृष्ट उल्लेख हुआ है और उससे उनका अस्तित्व एक अति प्राचीनकालसे सिद्ध है । उस दानपत्रके अतिरिक्त गिरिनार पर्वत पर अनेक प्राचीन स्थान और लेख हैं, जो भ० अरिष्टनेमिकी ऐतिहासिकताको प्रमाणित करते हैं ।

गिरिनारके बाबा प्याराके मठवाले शिलालेखमें " केवलज्ञान सम्प्राप्तानाम्" वाक्य पढ़ा गया है; जिससे स्मृष्ट है कि वह स्थान किसी केवलज्ञानीके प्रति उत्सर्ग कृत था ।^१ और यह विदित ही है कि श्री अरिष्टनेमिने गिरिनार पर्वतके निष्ठ केवलज्ञान प्राप्त किया था । मथुराको प्राप्त पुगलत्वकी सक्षी भी भ० नेमिके अस्तित्वको सिद्ध करती है ।^२ इसके अतिरिक्त निम्न लेखित साहित्यकी साक्षी भी इस विषयके समर्थनमें उल्लेख्य है ।

जैनोके प्राचीन साहित्यमें तो भगवान् अरिष्टनेमिका वर्णन है ही; परन्तु महत्वकी बात यह है कि हमें वैदिक साहित्यमें भी भगवान् अरिष्टनेमिका उल्लेख हुआ मिलता है । ऋजुर्वेद अ० १० मंत्र

१-इं०, भा० २० पृ० ३६९.... २-अग्ने० पृष्ठ ८६-८८
व जैस्तप० १३.... ।

२५में एक अरिष्टनेमिका स्पष्ट उल्लेख है ।^१ और जैन^२ एवं अजैन विद्वान् उन्हें जैन तीर्थङ्कर ही प्रकट करते आए हैं ।

इसके अतिरिक्त 'प्रभास पुराण' में स्पष्ट लिखा हुआ है कि नेमि जिनने रैवत पर्वतसे मोक्ष लाभ लिया था ।^३ इस साक्षीके समक्ष भ० अरिष्टनेमिके अस्तित्वमें शङ्का करना व्यर्थ है । विद्वानोंका मत है कि जब नेमिप्रभुके चचेरे भाई श्री कृष्णको ऐतिहासिक पुरुष माना जाता है तो कोई वजह नहीं कि तीर्थङ्कर नेमि वास्तविक पुरुष न माने जाय । डॉ० फुहरर और प्रो० बारनेट सा०ने स्पष्टतया भगवान् अरिष्टनेमिकी ऐतिहासिकता स्वीकार की है ।^४

इस प्रकार भगवान् अरिष्टनेमिके चरित्रसे यह प्रगट है कि उनके द्वारा दक्षिण भारतके पल्लव, मलय आदि देशोंमें जैन धर्मका प्रचार हुआ था और इस साक्षीसे दक्षिण भारतमें जैन धर्मकी प्राचीनता भी स्पष्ट होती है ।

१-वाजस्यनु प्रसव आवभूवेना च विश्वभुवनानि सर्वतः ।

स नेमिराजा परियात्ति विद्वान् प्रजां पुष्टि वर्धयन्मानो ॥९॥२५॥

२-श्री टोडरमल कृत 'मोक्षमार्ग-प्रकाश' देखो ।

३-प्रो० स्वामी विरुपक्ष बडियरने यही अर्थ किया था-देखो जैन पथ प्रदर्शकका विशेषांक [वर्ष ३ अंक ३] ऋग्वेद (१।६ व १६) के इस मंत्रका 'स्वस्ति वस्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः' का अर्थ 'अरिष्टनेमि (संसार सागरको पार कर जानेमें समर्थ) ऐसा जो अरिष्टनेमि तीर्थङ्कर है वह हमारा कल्याण करे ' किया था ।

४-'रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचके ।

ऋषीणां या श्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥ '

५-कांभने० पृ० ८८-८९

भगवान् पार्श्वनाथ ।

काशी देशमें इक्ष्वाकूवंश—उग्रकुलके राजा विश्वसेन राज्य करते थे । बनारस उनकी राजधानी थी और वहीं उनका निवास-स्थान था । रानी ब्रह्मदत्ता उनकी पटरानी थी । पौषकृष्ण एकादशीको उन रानीने एक प्रतापी पुत्र प्रसव किया; जिसके जन्मते ही लोकमें आनंद और हर्षकी एक धारा बह गई । देवों और मनुष्योंने मिलकर खूब उत्सव मनाया । उस पुत्रका नाम 'पार्श्व' रक्खा गया और वहीं जैन धर्मके २३ वें तीर्थंकर हुये ।

युवावस्थाको प्राप्त करके राजकुमार पार्श्व राज-काजमें व्यस्त होगये । वह अपने पिताके साथ प्रजाका हित साधनेमें ऐसे निरत हुये कि उनका नाम और काम चहुं ओर फैल गया । लोग उन्हें " सर्वजन प्रिय " (People's Favourite) कहकर पुकारते थे ।

एकदफा कुमार पार्श्वनाथ मित्रों सहित वनविहारके लिये निकले । बागमें उन्होंने देखा कि उनका नाना महीपालपुरका राजा तापसके मेघमें पंचामि तप रहा है । वह उल्टा मुख किये पेड़में लटका हुआ था । कञ्चन—कामिनीका मोह उसने त्याग दिया था; परन्तु फिर भी उसके त्यागमें कमी थी । उसे चमंड था कि मैं साधु हूं । श्रृंगार संसारमें और कोई नहीं । इस चमंडके दर्पणें वह अपने 'जाप' को भूक गया । उसकी आत्मोज्जितिका मार्ग अब कुण्ठित होगया । लेकिन वह तप तपता और कायकेश सहता था । पार्श्वकुमार और उनके मित्रोंको उसने देखा । उसको उन्हें चीननेषे

देर न लगी । पर वह साधु था । उनका अभिवादन पाये बिना वह क्यों बोले ? सरल—सहजकी रीति उसे पसन्द न थी । पार्श्व-कुमारने उसकी मूढ़ता देखी । वह उसे भला अभिवादन क्या करते ? हाँ, वह उसका सच्चा हित साधनेके लिये तुल पड़े ।

उन्होंने कहा कि यह साधुमार्ग नहीं है । अग्नि सुलगाकर व्यर्थ जीवोंकी हिंसा करते हो ! राजकुमारके इन शब्दोंने उस साधुको आग—बबूला बना दिया । उसने कुल्हाड़ी उठाई और अधसिलगे लकड़ीके बोटेको वह फाड़ने लगा । उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब उसने उस लकड़ीकी खुस्खालमें एक मरणासन्न सर्पयुगल देखा ! उसका मन तो मान गया, परन्तु धर्मंडका भूत सिरसे न उतरा । यही कारण था कि वह अहिंसा धर्मके महत्त्वको न समझ सका । सर्पयुगलको भ० पार्श्वने सम्बोधा ! वे समभावोंसे मरे और धरणेन्द्र—पद्मावती हुये ।

इस रीतिसे भ० पार्श्वनाथ कौमारकालसे ही जनतामें धार्मिक सुधार कर रहे थे । उनके समयमें धर्मके नामपर तरह तरहके अनर्थ प्रचलित होगये थे । पार्श्व प्रभूने उनको भेंटना आवश्यक समझा । उन्होंने देखा कि समाजमें गृहत्यागियोंकी मान्यता है और बिना गृह त्याग किये सत्यके दर्शन पा लेना दुर्लभ है । इसलिये उन्हें घरमें रहना दुभर होगया ।

आखिर उन्हें एक निमित्त मिल गया—अब वे दिगम्बर मुनि होगये । मुनि अवस्थामें उन्होंने घोर तप तपा । ज्ञान-ध्यानमें वे कीन रहे । संयमी जीवनकी पराकाष्ठापर वे पहुंच गये । एक अच्छेसे

दिन 'ज्ञान' मूर्तिमान् हो उनके अभ्यन्तरमें नाचने लगा । पार्श्वनाथ साक्षात् भगवान् होगये—वे अब सर्वज्ञ तीर्थंकर थे । ज्ञान-प्रकाशका घबल आलोक उनके चहुँओर छिटक रहा था । ज्ञानी जीव उनकी शरणमें पहुँचे । भगवानने उन्हें सच्चा धर्म बताया, जिसे पाकर सब ही जीव सुखी हुये—सबने समानताका अनुभव किया और आत्मस्वातंत्र्यके वे अधिकारी हुये ।

अपने इस विश्वसन्देशको लेकर भगवान पार्श्वनाथने सारे आर्यदेशमें विहार किया । जहाँ-जहाँ उनका शुभागमन हुआ वहाँ-वहाँके लोग प्रतिबुद्ध हो सन्मार्ग पर आरूढ़ हुये । भगवान पार्श्वनाथके धर्मप्रचारका वर्णन सकलकीर्ति कृत 'पार्श्वनाथचरित्' में निम्न-प्रकार लिखा हुआ है:—

“ तत्त्वमेदप्रदानेन श्रीमत्पार्श्वभुर्महान् ।

जनान् कौशलदेशीयान् कुशलान् संश्रयद्भृशं ॥ ७६ ॥

मिदन् मिथ्यातमोगाढं दिव्यध्वनिप्रदीपकैः ।

काशीदेशीयकोकान् स चक्रे संयमतत्परान् ॥ ७७ ॥

श्रीमन्मालवदेशीयभयलोकसुचातकान् ।

देशनारसधाराभिः प्रीणयामास तीर्थराट् ॥ ७८ ॥

अबन्तीयान् जनान् सर्वान् मिथ्यात्वानलतापितान् ।

रयान्निर्वापयामास...पार्श्वचन्द्रामृतैः ॥ ७९ ॥

गौर्जराणां जनानां हि पार्श्वसम्राट् जितेन्द्रियः ।

मिथ्यात्वं जर्जरं चक्रे सद्बचः शस्त्रघातनैः ॥ ८० ॥

महाव्रतवरान् काश्चिन्महाराष्ट्रजनान्श्रवणान् ।

दीक्षोपदेशदानेन पार्श्वकल्पद्रुमस्तथा ॥ ८१ ॥

पार्श्वभट्टारक श्रीमान् पादन्यासेविहास्तः ।

सर्वान् सौराष्ट्रलोकांश्च पवित्रान् चिद्रघेभृशं ॥ ८२ ॥

अंगे बंगे कर्लिंगेऽथ कण्टि कौकणे तथा ।

मेदपादं तथा लाटे लिङ्गिगे द्राविडं तथा ॥ ८३ ॥

काश्मीरे मगधे कच्छे विर्भे च दशार्णके ।

पंचाले पल्लवे वत्से पगभीरे मनोहरे ॥ ८४ ॥

इत्यार्यखण्डदेशेषु षड्क्रोणात्स महाधनी ।

दर्शनज्ञानचारित्रात्तान्मेवोत्तयान्धलं ॥ ८५ ॥ १५ ॥

भावार्थ—तत्त्वभेदको प्रदान करनेके लिये महान् प्रभु श्री पार्श्व भगवानने कौशल देशके कुशल पुरुषोंमें विहार किया और अपनी दिव्यध्वनिरूप प्रदीपसे गढ़ मिथ्यातमकी घञ्जिपां उड़ा दीं। फिर संयममें तत्पर काशी देशके मनुष्योंमें धर्मचक्रका प्रभाव फैलाया। श्री मालवदेशके निवासी भव्यलोकरूप चातकोंने भी तीर्थराट्के धर्माभूतका पान किया था। अवंती देश जो मिथ्यानलसे तप्त था, सो पार्श्वरूपी चन्द्रके अमृतको पाकर शांत होगया था। गौर्जर देशमें भी नितेन्द्रिय पार्श्व सम्राट्के सद्बचनोंके प्रभावसे मिथ्यात्व बिल्कुल जर्जरित होगया था। महाराष्ट्र देशवासियोंमें अनेकोंने पार्श्व भगवानसे दीक्षा ग्रहण की थी। सर्व सौराष्ट्र देशमें भी पार्श्व भट्टारकका विहार हुआ था, जिससे वहांके लोग पवित्र होगए थे। अंग, बंग, कर्लिंग, कर्नाटक, कोंकण, मेदपाद, लाट, द्राविड, काश्मीर, मगध, कच्छ, विदर्भ, शाक, पंचाल, पल्लव, वत्स इत्यादि आर्यखंडके देशोंमें भी भगवान्के उपदेशसे सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नोंकी अभिवृद्धि हुई थी।

भगवान् पार्श्वनाथके इस विहार-विवरणसे स्पष्ट है कि उनका शुभागमन दक्षिण भारतके देशोंमें भी हुआ था । महाराष्ट्र, कोंकण, कर्नाटक, द्राविड, पल्लव आदि दक्षिणावर्ती देशोंमें विचर करके तीर्थङ्कर पार्श्वनाथने एक बार पुनः जैन धर्मका उद्योत किया था । दक्षिण भारतमें भगवान् पार्श्वनाथके शुभागमनको चिरस्मरणीय बनानेवाले वहां कई तीर्थ आज भी उपलब्ध हैं । अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ, कलिकुंड पार्श्वनाथ आदि तीर्थ विशेष उल्लेखनीय हैं । दक्षिण भारतके जैनी भगवान् पार्श्वनाथका विशेषरूपमें उत्सव भी मनाते हैं ।

महाराजा करकंडु ।

भगवान् पार्श्वनाथके शासनकालमें सुप्रसिद्ध महाराजा करकंडु हुये थे । इन्हें शास्त्रोंमें ' प्रत्येक बुद्ध ' कहा गया है और उनकी मान्यता जैनेतर लोगोंमें भी है ।

उत्तर भारतके चम्पापुरमें षाडीवाहन नामका राजा राज्य करता था । उसकी रानी पद्मावती गर्भवती थी । एक दिन हाथीपर सवार होकर राजा और रानी वनविहारको गये । हाथी विचक गया और उन्हें जंगलमें लेभागा । राजा तो पेड़की डाली पकड़कर बच गया । परन्तु रानीको हाथी लिये ही चला गया । वह दन्तिपुरके पास एक जलाशयमें जा घुसा । रानीने कूद कर अपने प्राण बचाये और एक मालिनके घर जाकर रहने लगी । किंतु मालिनके क्रूर स्वभावसे वह तंग आगई और एक स्मशान भूमिमें वह जा बैठी ।

कर्मोंके वैचित्र्यको धिक्कारती हुई पद्मावती रानी वहां बैठी थी कि वहाँ उन्होंने एक पुत्र प्रसव किया । एक मातंग वेषधारी विद्याधरने उस समय पद्मावती रानीकी सहायता की—नवजात शिशुकी रक्षाका भार उसने अपने ऊपर लिया । उस विद्याधरने उस बालकको खूब पढ़ाया—लिखाया और शस्त्रास्त्र चलानेमें निष्णात बनाया । बालकके हाथमें सूखी खुजली थी । इस कारण उसे ' करकंडु ' नामसे पुकारने लगे ।

बालक करकंडु भाग्यशाली था । जब वह युवा हुआ तो दन्तिपुरके राजाका परलोकवास होगया । उसके कोई पुत्र न था । राजमंत्रियोंने दिव्य निमित्तसे करकंडुको राजत्वके योग्य पाकर उन्हें दन्तिपुरका राजा बनाया । राजा होनेके कुछ समय पश्चात् करकंडुका विवाह गिरिनगरकी रानकुमारी मदनাবलीसे होगया ।

चम्पाके राजाने करकंडुको अपना आधिपत्य स्वीकारनेके लिये बाध्य किया; जिसे करकंडुने अस्वीकार किया । अन्तिम दोनों नरेशोंमें युद्धकी नौबत आई; परन्तु पद्मावतीने बीचमें पड़कर पिता-पुत्रकी सन्धि करादी । घाड़ीवाहन पुत्रको पाकर बहुत हर्षित हुए । उन्होंने चम्पाका राजपाट करकण्डुको सौंपा और आप मुनि होगये । करकण्डु सानन्द राज्य करने लगे ।

एकवार करकंडुको यह कामना हुई कि उनकी आज्ञा सारे भारतमें निर्बाध रीतिसे मान्य हो; किंतु मंत्रियोंसे उन्हें मालूम हुआ कि द्राविड़ देशके चोल, चेर और पाण्ड्यनरेश उनकी आज्ञाको नहीं मानते हैं ।

राजाने उनके पास दूत भेजा, परन्तु उन्होंने करकंडुका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया । इस उत्तरको सुनकर करकंडु चिढ़ गया । और उसने उनपर तुरन्त चढ़ाई कर दी । मार्गमें वह तेरापुर नगर पहुंचे । और वहांके राजा शिवने उनका सम्मान किया । वहीं निकटमें एक पहाड़ी और गुफायें थीं । करकंडु शिवराजाके साथ उन्हें देखने गया । गुफामें उन्होंने भगवान पार्श्वनाथका दर्शन किया । वहीं एक वामीको उन्होंने खुदवाया और उसमेंसे जो भगवान पार्श्वनाथकी एक मूर्ति निकली, उसको उन्होंने उस गुफामें विराजमान किया । मूर्ति जिस सिंहासन पर विराजमान थी उसके बीचमें एक भद्दी गाँठ दिखती थी । करकंडुने उसे तुड़वा दिया, किन्तु उसके तुड़वाते ही वहाँ भयंकर जलप्रवाह निकल पड़ा । करकंडु यह देखकर पछताने लगे । उस समय एक विद्याघरने आकर उनकी सहायता की और उसने उस गुफाके बननेका इतिहास भी उनको बताया ।

विद्याघरके कथनसे करकंडुको मालूम हुआ कि दक्षिण विजयाद्वेके रथनपुर नगरसे राजच्युत होकर नील-महानीक नामके दो भाई तेरापुरमें आरहे थे । यह दोनों विद्याघर वंशके राजा थे । धीरे धीरे उन्होंने वहाँ राज्य स्थापित कर लिया । एक मुनिके उपदेशसे उन्होंने जैन धर्म ग्रहण कर लिया और वह गुफा मंदिर बनवाया । उस गुफा मंदिरमें एक मूर्ति ठेठ दक्षिणभारतसे आई हुई उस विद्याघरने बताई ।

रावणके वंशजोंने मलयदेशके पृथ्वी पर्वतपर एक जिनमंदिर

बनवा कर वह सुंदर जिनमूर्ति स्थापित कराई थी । कोई विद्याधर उस मूर्तिको वहाँसे उठा लाये और तेरापुरमें उसको उतारा । फिर वह उस मूर्तिको वहाँसे नहीं ले जासके । करकंडु यह सब कुछ सुनकर बहुत प्रसन्न हुये । करकंडुने वहाँ दो गुफायें और बनवाई ।

तेरापुरसे करकंडु सिंहलद्वीप पहुंचे और वहाँकी राजपुत्री रतिवैद्याका पाणिग्रहण किया । उपरान्त एक विद्याधर पुत्रीको व्याह कर उन्होंने चोल, चेर और पाण्ड्य नरेशोंकी सम्मिलित सेनाका मुकाबला किया और हराकर अपना प्रण पूरा किया । किन्तु जब करकंडुने उन्हें जैनधर्मानुयायी जाना उनके मुक्कोंमें जिनप्रतिमायें देखीं तो उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने उन्हें पुनः राज्य देना चाहा; पर वे स्वाभिमानी द्राविडाधिपति यह कहकर तपस्याको चले गये कि अब हमारे पुत्र पौत्रादि ही आपकी सेवा करेंगे । वहाँसे लौटकर तेरापुर होते हुये करकंडु चम्पा आगये और राज्यसुख भोगने लगे ।

एक दिन चम्पामें शीलगुप्त नामक मुनिराजका शुभागमन हुआ । करकंडु सपरिवार उनकी वन्दनाको गया । मुनिराजसे उन्होंने धर्मोपदेश और अपने पूर्वभव सुने, जिनके सुननेसे उन्हें वैराग्य होगया और वे अपने पुत्र वसुपालको राज्य देकर मुनि हो गये । मुनि अवस्थामें उन्होंने घोर तप तपा और मोक्ष प्राप्त किया । उनकी रानियाँ भी साध्वी होगई थीं ।

महाराजा करकंडुकी बनवाई हुई गुफायें आज भी हैद्राबाद राज्यके उस्मानाबाद जिलेमें तेर नामक स्थानपर मिलती हैं । उनकी

रचना और क्रम ठीक वैसा ही है जैसा कि करकण्डुकी बनवाई हुई गुफाओंका था । और वहांपर जीमूतवाहन विद्याधरके वंशजोंका एक समय राज्य भी था । वे ' तगरपुरके अधीश्वर ' कहलाते थे । उपरान्त वे ही लोग इतिहासमें शिलाहारवंशके नामसे परिचित हुये थे । करकण्डु महाराजकी सहायता करनेवाला भी एक विद्याधर था और उसने यह कहा था कि—नील-महानील विद्याधरोंके वंशज तेरापुर (तगरपुर) में राज्य करते थे । इससे स्पष्ट है कि शिलाहारवंशके राजा उन विद्याधरोंके ही अधिकारी थे, जिनमें जैनधर्मकी मान्यता थी । शिलाहार राजाओंमें भी अधिकांश जैनी थे । इससे भी दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्राचीन अस्तित्व सिद्ध है । x

भगवान् महावीर—वर्द्धमान् ।

भगवान् महावीर जैन धर्ममें माने हुये चौबीस तीर्थङ्करोंमें अन्तिम थे । वे ज्ञातृवंशी क्षत्रिय नृप सिद्धार्थके पुत्र-रत्न थे । उनका जन्म वैशालीके निकट अवस्थित कुण्ड ग्राममें हुआ था और उनके जीवनका अधिकांश समय उत्तर भारतमें ही व्यतीत हुआ था; परन्तु यह बात नहीं है कि दक्षिण भारतके लोग उनके धर्मोद्देशसे अछूते रहे थे । यह अवश्य है कि उनका विहार ठेठ दक्षिणमें शायद नहीं हुआ हो । वहां उनके पूर्वगामी तीर्थङ्कर श्री अरिष्टनेमी आदि

x विशेषके लिये 'करकण्डुचरिय' (कारंज जैन ग्रन्थमाला) की भूमिका देखना चाहिये, जिसके आधारसे यह परिचय सधन्यवाद मिला गया है ।

और उनके शिष्योंका ही विहार हुआ; परन्तु विंध्याचलके निकट-वर्ती प्रदेश अर्थात् दक्षिणा पथमें भगवान् महावीरका शांति-सुख-विस्तारक समोशरण निस्सन्देह अवतरित हुआ था ।

जब लगभग तीस वर्षकी अवस्थामें उन्होंने गृह-त्याग करके दिगम्बर मुनिका वेष धारण किया तब वे उत्तर और पूर्वीय भारतमें ही विचरते रहे । उधर पूर्व-दक्षिणमें लाढ़-वज्रभूमि आदि देशोंमें भगवान् ने विहार किया था और इधर पश्चिम-दक्षिणमें वे उज्जैन तक पहुँचे थे । उज्जैनके महाकाल स्मशान भूमिमें जब भगवान् बिराज रहे थे, तब उनके अलौकिक ध्यान-ज्ञान-अभ्यासको सहन न करके रुद्र नामक व्यक्तिने उन पर घोर उपसर्ग किया था । इस घटनाके बाद भगवान् का विहार उत्तर-पूर्व दिशाको हुआ था ।

अन्ततः जृम्भकग्रामके निकट ऋजुकूला नदीके तटपर उन्होंने घोर तपश्चरण किया था और वहीं उनको केवलज्ञानकी सिद्धि हुई थी । यह पवित्र स्थान आधुनिक झिरिबाके निकट अनुमान किया गया है ।^१ केवली तीर्थङ्कर होकर भगवान् ने राजगृहकी ओर प्रस्थान किया था और वहांसे वे प्रायः सर्वत्र उत्तर भारतमें विचरते रहे थे । ठीकसे नहीं कहा जासकता कि वे कहाँ-कैसे और कब पहुँचे थे, परन्तु इसमें संशय नहीं कि जब वे सूरसेन, दक्षार्ण आदि

१-शायद यही कारण है कि दक्षिण भारतके जैनोंने अपने संघको 'मूलसंघ' कहा है । अतः जैनधर्मके यथार्थ दर्शन दक्षिण भारतीय साहित्यमें ही होना संभव है ।

२-'वीर' भा० ९ पृष्ठ ३३४-३३६ ।

देशोंमें होते हुये सिन्धु-सौवीर देशमें पहुँचे थे, तब विंध्याचलके समीप स्थित देश उनके सम्पर्कमें आनेसे नहीं बचे ।

हेमांगदेशकी राजधानी राजपुरमें भगवानका शुभागमन हुआ था । राजपुर दण्डकारण्यके निकट अवस्थित था ।^१ वहाँके राजा जीवनधर अत्यंत पराक्रमी थे । उन्होंने पल्लवदेशादि विजय किये थे । उनका विचरण दक्षिण भारतके देशोंमें भी हुआ था । दक्षिणस्थ क्षेमपुरीमें उन्होंने दिव्य जिनमंदिरके दर्शन किये थे । आखिर वे भ० महावीरके निकट मुनि होगये थे । पौदनपुरमें राजा प्रसन्नचंद्र भ० महावीरका भक्त था । पौराणपुरका राजा भी भगवान् महावीरका शिष्य था ।

भगवान्का शुभागमन इन देशोंमें हुआ था । इससे आगे वे गये थे या नहीं, यह कुछ पता नहीं चलता । हां, 'हरिवंशपुराण' में अवश्य कहा गया है कि भ० महावीरने ऋषभदेवके समान ही सारे आर्य देशमें विहार और धर्मपचार किया था । इसका अर्थ यही है कि दक्षिण भारतमें भी वे पँचे थे ।

सम्राट् श्रेणिक, जम्बूकुमार और विद्युच्चर ।

भगवान् महावीर—वर्द्धमानके अनन्य भक्त सम्राट् श्रेणिक थे ।

तब मगधमें शिशु नागवंशके राजाओंका श्रेणिक विम्बसार । राज्य था । श्रेणिक उस ही वंशके स्तन और मगध साम्राज्यके संस्थापक थे ।

मगध राज्यका उन्होंने खूब ही विस्तार किया था । कहते हैं कि

१—जैसिमा०, भा० २ पृष्ठ ९,—१०२-। २—हरि०, पृष्ठ १८ ।

सम्राट् श्रेणिक, जम्बूकुमार और विद्युच्चोर । [९५]

भारतकी पश्चिमोत्तर सीमापर पैर जमाये हुये ईरानियोंको सम्राट् श्रेणिकने ही दूर भगा दिया था । श्रेणिकके पुत्र अभयराजकुमार थे । वह राजमंत्र और तंत्रमें अति प्रवीण थे । मालूम होता है कि ईरानके राजवंशसे उनका प्रेममय व्यवहार था ।

श्रेणिकने ईरान और उसके निकटवर्ती देशोंमें जिनमूर्तियां स्थापित कराई थीं । अभयराजकुमारने अपने मित्र ईरानके शाहजादे आर्द्रकके लिये स्वास तौरपर एक जिनमूर्ति भेजी थी । आर्द्रक उस दिव्यमूर्तिके दर्शन करके ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ कि सीधा भगवान् महावीरके समोशरणमें आ मुनिदीक्षासे दीक्षित होगया ।^२ निस्संदेह सम्राट् श्रेणिक और उनके सुपुत्रोंने मगध राज्यकी समृद्धिके साथर जैनधर्मकी महान् सेवा और प्रभावना की थी ।

श्रेणिककी राजधानी राजगृह नगरी थी । वहांपर अईदास नामके एक धर्मात्मा सेठ रहते थे, जिनकी **जम्बूकुमार ।** पत्नी जिनमती थी । फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षमें एक अच्छेसे दिन जब चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र पर था तब प्रातः समय उस सेठानीकी कोखसे एक पुत्र-रत्नका जन्म हुआ । माता-पिताने उसका नाम जम्बूकुमार रक्खा । जम्बूकुमारने युवा होते-र सब ही शस्त्रशस्त्र विषयक विद्याओंमें योग्यता प्राप्त कर ली । राजदरबारमें भी इनकी मान्यता होगई । सम्राट् श्रेणिक इनका खूब सम्मान करते थे ।

१- 'मारि०' (अक्टूबर १९३०) पृ० ४३८

२-संज्ञेइ० भा० २ खंड १ पृ० १२-२३

उस समय दक्षिण भारतके केरल देशमें एक विद्याधर राजा राज्य करता था । उस ओर विद्याधर केरल विजय । वंशके राजाओंने प्राचीनकालसे अपना आधिपत्य जमा रक्खा था । बस, केरलके उस विद्याधर राजाका नाम मृगांक था । सम्राट् श्रेणिकसे उसकी मित्रता थी । मृगांकपर हंसद्वीप (लंका) के राजा रत्नचूळने आक्रमण किया था । मृगांककी सहायताके लिये श्रेणिकने जम्बूकुमारके सेनापतित्वमें अपनी सेना भेजी थी ।

जम्बूकुमारने वीरतापूर्वक शत्रुका संहार किया था । इस युद्धमें उनके हाथसे आठ हजार योद्धाओंका संहार हुआ था । उपरांत मृगांकने अपनी कन्या विलासवतीका विवाह श्रेणिकके साथ किया था । जब श्रेणिक केरल गये हुये थे तब उन्होंने विन्ध्याचल और रेवा नदीको पार करके कुरल नामक पर्वतपर विश्राम किया था और वहांपर स्थापित जिन विम्बोंकी पूजा-अर्चना की थी ।^१

दक्षिण भारतके इतिहाससे यह सिद्ध है कि प्राचीन कालमें हंसद्वीप (लंका) और तामिळ-पाण्ड्यादि दक्षिण देशवासियोंके मध्य परस्पर आक्रमण होते रहते थे । उधर यह भी प्रगट है कि नन्द-

१-‘जम्बूकुमार चरित्’ में विशेष परिचय देखो—

‘ततस्तां च समुत्तीर्य प्रतस्थे केरलां प्रति ।

विश्रामं कियत्काळं नाम्ना कुरलभूषरे ॥१४३॥७॥

पूजयामास भूमीशस्तत्र भिन्नं विनेशिनः ।

मुनीनपि महामत्तया ततः प्रस्थातुमुद्यतः ॥१४४॥

सम्राट् श्रेणिक, जम्बूकुमार और विद्युच्चोर । [९७]

राजाओंने दक्षिण भारतपर आक्रमण किये थे । इस अवस्थामें यह संभव है कि श्रेणिकने राजा मृगांककी सहायता की हो ।

केरल विजय करके श्रेणिक और जम्बूकुमार लौटकर सानन्द राजगृह आये और खूब विजयोत्सव मनाया ।

एक रोज जम्बूकुमारका समागम मुनिराज श्री सुधर्माचार्यसे हुआ, जिनसे उन्होंने अपने पूर्वभव सुने । उन्होंने जाना कि सुधर्माचार्य उनके पूर्वभवके भाई हैं । वह भी भाईकी तरह मुनि होजानेके लिये उद्यमी होगये; परन्तु सुधर्माचार्यने उन्हें उस समय दीक्षित नहीं किया । जम्बूकुमार माता-पिताकी आज्ञा लेनेके लिये घर चले गये । वहां उन्हें पितृगणके विशेष आग्रहसे विवाह करना पड़ा; परन्तु उन्होंने नववधुओंके साथ रहकर रतिकेलीमें समय नहीं गंवाया । उन सबको समझा-बुझाकर वे दिगम्बर मुनि होगये ।

जिस समय जम्बूकुमार अपनी पत्नियोंको समझा रहे थे उस

समय विद्युच्चर नामका चोर उनकी

विद्युच्चर ।

बातें सुन रहा था, जिनका उसपर वेढव

असर पड़ा । और वह भी अपने पांचसौ

शिष्यों सहित जम्बूकुमारके साथ मुनि होगया । यह विद्युच्चर दक्षिण-पथके प्रसिद्ध नगर पोदनपुरके नरेश विद्युदाजका पुत्र विद्युत्प्रभ था । इसने चौर्य शास्त्रका अध्ययन किया था और उसका अभ्यास

१-उद्यु० पृ० ७०९ “जम्बूकुमार चरित्” में इन्हें हस्तिना-पुरके राजाका पुत्र लिखा है; परन्तु वह विद्युच्चर इनसे भिन्न और भ० पार्श्वनाथके तीर्थमें हुये थे ।

करनेके लिये राजगृह चका आया था । दक्षिण भारतके देशोंमें उसने खासा भ्रमण किया था ।

समुद्रके निकट स्थित मलयाचल पर्वतपर वह पहुंचा था । वहांसे वह सिंहलद्वीप भी गया था; जहांसे वापिस होकर वह केरल आया था । द्रविड देशको उसने जैन मंदिरों और जैनियोंसे परिपूर्ण देखा था । फिर वह कर्णाटक काञ्चोज, कांचीपुर, सह्याद्वत, महाराष्ट्रादिमें होता हुआ विंध्याचलके उपर्य आभीर देश, कोङ्कण, किर्किन्धादिमें पहुंचा था । इस वर्णनसे भी उस समय दक्षिण भारतमें जैन धर्मका अस्तित्व प्रमाणित होता है ।

जम्बुकुमार और विद्युच्च ने अपने साथियों सहित भगवान् सौधर्माचार्यसे मुनि दीक्षा ग्रहण की थी । विपुलाचल पर्वत परसे जब सुधर्मस्वामी मुक्त हुये तब जम्बुस्वामी वेवळज्ञानी हुये ।

१-“दक्षिणस्यां दिशि प्राप्य समुद्रं मलयाचलम् ।

पट्टरादिद्रुमाकीर्णप्रसोत्तुंगमनोऽम् ॥ २१५ ॥

अगम्यं हि सिंहलद्वीपं कैलं देशमुज्जम् ।

द्रविडं चैत गृहागमं जैनलोकपरिवृम् ॥ २१६ ॥

चीर्णं कर्णाटसंज्ञं च काञ्चोजं कौतुकावहम् ।

कांचीपुरं सुकांत्या व काञ्चनाभं मनोऽम् ॥ २१७ ॥

कौतलं च समामाद्य सह्यं पर्वतमुज्जम् ।

महाराष्ट्रं च वेदधर्मदेशं नानाबनाङ्कम् ॥ २१८ ॥

विचित्रं नर्मदातरं प्रदेशं विध्यपर्वम् ।

विंध्याटवीं समुल्लंघ्य तं श्वलितमहनिम् ॥ २१९ ॥ इत्यादि ।

—जम्बु० पृ० १८८.

उन्होंने मगधादि देशोंमें धर्मप्रचार किया और आखिर विपुलाचल पर्वतपरसे वह भी निर्वाण पधारे ।

एकदा विद्युच्चर अपने पांचसौ साथियों सहित मथुराके उद्यानमें आ विराजे; जहां उन पर घोर उपसर्ग हुआ । सब मुनियोंने समतापूर्वक समाधिमरण किया । उनकी पवित्र स्मृतिमें वहां पांचसौ स्तूप निर्माण किये गये थे, जो अकबर बादशाहके समय तक वहां विद्यमान थे ।^१

नन्द और मौर्य सम्राट् ।

शिशु नागवंशके प्रतापी राजाओंके पश्चात् मगध साम्राज्यके अधिकारी नन्दवंशके राजा हुये थे । उस

नन्द-राजा । समय मगधका शासक ही भारतवर्षका

प्रमुख और अग्रगण्य नृप अथवा सम्राट्

समझा जाता था । इसी कारण मगधका अधिकार पाते ही नन्दराजा भी भारतके प्रधान शासक समझे जाने लगे । यहां तक कि विदेशी-यूनानी लेखकोंने भी नन्दोंकी प्रधानता और प्रसिद्धिका व्लेख किया है ।^२ इन नन्दोंमें सम्राट् नन्दवर्द्धन् और महापद्म मुख्य थे । नन्दवर्द्धन्ने एक भारतव्यापी दिग्विजय की थी, जिसमें उसने दक्षिण भारतको भी विजय किया था ।

दक्षिण भारतके एक शिलालेखसे यह स्पष्ट है कि नन्दरा-

१-जम्बू० पृ० १०-११. मथुरामें विद्युच्चरकी स्मृतिमें स्तूपोंका होना इस कथानककी सत्यताका प्रमाण है । २-एम्०, पृष्ठ १३९ ।

जाओंने कुन्तलदेश पर शासन किया था और कदम्ब वंशके राजा उन्हें अपना पूर्वज मानते थे ।^१ कुन्तलदेश आजकलके पश्चिमीय दक्खिन (Decan) और उत्तरीय मैसूर जितना था । दक्षिणमार्तके होसकोटे जिलेमें नन्दगुहि नामक ग्राम उत्तुङ्गमुज नामक राजाकी राजधानी बताई जाती है और कहा जाता है कि नन्दराजा उसके भतीजे थे । उसने उनको कैद कर लिया था; परन्तु उन्होंने मुक्त होकर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था ।^२ परन्तु कहा नहीं जा सकता कि इस जनश्रुतिमें कितना तथ्य है, तो भी यह स्पष्ट है कि नन्द साम्राज्यका विस्तार दक्षिण भारत तक था । कुन्तलदेश नन्दराजाओंके शासनाधीन था ।

नन्दराजाओंके पश्चात् भारतके प्रधान शासक मौर्यवंशके शासक हुये । चन्द्रगुप्त मौर्यने अन्तिम मौर्य-सम्राट् । नन्दराजा और उसके सहायकोंको परास्त

करके मगध साम्राज्य पर अपना अधिकार जमाया था । उधर पश्चिमोत्तर सीमा प्रांतसे यूनानियोंको खदेड़कर चन्द्रगुप्तने उत्तर भारतमें अफगानिस्तान तक अपना राज्य स्थापित किया था । और यह प्रगट ही है कि दक्षिण भारतके एक भागको नन्द राजाओंने ही मगध साम्राज्यमें मिला लिया था । इसलिये चन्द्रगुप्तका अधिकार स्वतः उस प्रदेशपर होगया था । एक शिलालेखमें स्पष्ट कहा गया है कि शिकारपुर तालुकके नाग-

१-इका० ७, शिकारपुर २२५ व २३६, मैकु० पृष्ठ ३ व जमीसो० भा० २२ पृष्ठ ५०४ । २-जमीसो० भा० २२ पृष्ठ ५०५ ।

खण्डकी रक्षा प्राचीन क्षत्रिय-चारित्र-आश्रय-चन्द्रगुप्त करते थे ।^१ चन्द्रगुप्तने कृष्णा नदीके किनारेपर भी शालममें एक नगर भी बसाया था । किन्तु माछूम होता है कि मौर्योंको उपरान्त दक्षिण भारतमें अधिकाधिक राज्य बिस्तारकी आकांक्षा हुई थी । तदनुसार मौर्योंने तामिल देशपर आक्रमण किया था ।

मौर्योंके इस आक्रमणका उल्लेख तामिलके प्राचीन 'संगम्' साहित्यमें मिलता है । संगम् कवि मामूलनार, परनर, प्रभृतने अपनी रचनाओंमें मौर्य-आक्रमणका वर्णन किया है । उससे ज्ञात होता है कि दक्षिणके तीनों प्रधान राज्यों-चेर, चोल, और पाण्ड्यने मिलकर मौर्योंका मुकाबिल किया था ।

तामिल सेनाके सेनापति पाण्डियन्नेदुन्चेलियन नामक महानुभाव थे । मोहूरका राजा उनका सहायक था । उधर मौर्योंके सहायक वेडुकर अर्थात् तेलुगु लोग थे । तामिलोंसे पहला मोरचा बडुकर लोगोंने ही लिया था; परन्तु तामिलोंसे वे बुरी तरह हारे थे । इसपर स्वयं मौर्य सम्राट् रणाङ्गणमें उपस्थित हुये थे और ब्रमासान युद्ध हुआ था; किन्तु वेङ्कट पर्वतने मौर्योंको आगे नहीं बढ़ने दिया था । फिर भी यह प्रगट है कि मौर्य मैसूर तक पहुंच गये थे । साथ ही विद्वानोंका अनुमान है कि दक्षिण भारतपर यह आक्रमण सम्राट् विन्दुसार द्वारा हुआ था । क्योंकि अशोकने

१-सोराबस्य नं० २६३ का शिवालेख, जो १४ वीं शताब्दिका है । मेकु० पृष्ठ १० एरि० भा० ९ पृष्ठ ९९ । २-जमीसो०, भाग १८ पृष्ठ १५९-१६६ । ३-जमीसो०, भाग २२ पृष्ठ ९०५ ।

केवल एक कलिङ्गका युद्ध लड़ा था परन्तु उसके शासन लेख मैसूर तक मिलते हैं । इस प्रकार मौर्योंका शासन दक्षिण भारतमें मैसूर प्रान्त तक विस्तृत था ।

सम्राट् अशोकके धर्मशासन-लेख मैसूरके अति निकट मिले हैं । ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जटिङ्ग, रामेश्वर

सम्राट् अशोक । पर्वत, कोप्पल और बेरुणादी नामक स्थानोंसे उपलब्ध अशोक-लेख वहांतक

मौर्यशासनके विस्तारके द्योतक हैं । किन्तु 'ब्रह्मगिरि' के धर्म-लेखमें सम्राट् माता-पिता और गुरुकी सेवा करनेपर जोर देते हैं, यह एक खास बात है ।^१ यह शायद इसलिये है कि यह धर्मलेख मैसूरके उस स्थानसे निकट अवस्थित है जहांपर अशोकके पितामह सम्राट् चन्द्रगुप्तने आकर तपस्या की थी । श्रवणबेलगोलसे ही चंद्रगुप्तने स्वर्गरोहण किया था ।

अशोकने अपने पितामहके पवित्र समाधिस्थानकी वन्दना की थी ।^२ मालूम होता है, इसीलिये उन्होंने ब्रह्मगिरिके धर्मलेखमें खास तौरपर गुरु और माता-पिताकी सेवा करनेकी शिक्षाका समावेश किया था । प्रो० एस० आर० शर्मा यह प्रगट करते हैं ।^३ और यह हम पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि बौद्ध होनेसे पहले अशोक जैनी था और अपने शेष जीवनमें भी उसपर जैन धर्मका काफी प्रभाव रहा था । अशोकने जैनोका उल्लेख निर्ग्रन्थ और श्रमण नामसे किया था ।

१-अध० पृष्ठ ९४-९६ । २-संज्ञेहि०, भा० २ खण्ड १ पृष्ठ २२९-२७० । ३-जैसइ०, अध्याय २ ।

किन्तु मौर्य सम्राटोंमें चन्द्रगुप्तका ही सम्बन्ध दक्षिण भारतमें विशेष और महत्वशाली रहा है ।

सम्राट् चन्द्रगुप्त । एक शासकके रूपमें ही वह सम्राट् दक्षिण भारतीयोंके परिचयमें आये हैं केवल इतना ही नहीं, बल्कि वह उनके बीचमें एक पूज्य साधुके भेषमें विचरे थे । जैन शास्त्रों और शिलालेखोंसे प्रगट है कि जिस समय सम्राट् चन्द्रगुप्त भारतका शासन कर रहे थे, उस समय उत्तर भारतमें एक भयंकर दुष्काल पड़ा, जिसके कारण लोभ त्राहित्राहि करने लगे । इस समय जैन संघका प्रधान केन्द्र मगध था और श्रुतकेवली भद्रबाहु और आचार्य स्थूलभद्र संघके नेता थे । भद्रबाहुस्वामीने इस दुष्कालका होना अपने दिव्यज्ञानसे जानकर पहले ही घोषित कर दिया था ।

सम्राट् चन्द्रगुप्त इन आचार्योंके शिष्य थे । उन्होंने जब गुरु भद्रबाहुजीके मुखसे दुष्कालके समाचार सुने तो उन्होंने अपने पुत्रका राजतिलक कर दिया और स्वयं मुनिदीक्षा लेकर श्रुतकेवलीके साथ हो लिये । भद्रबाहुस्वामी संघको लेकर दक्षिण भारतकी ओर चले गये । मैसूर प्रांतमें श्रवणबेलगोलके निकट कटवप्र पर्वतपर वह ठहर गये, और संघको आगे चोलदेशमें जानेके लिये आदेश दिया । मुनि चन्द्रगुप्त उनकी वैयावृत्तिके लिये उनके साथ रहे थे ।

वहीं तपश्चरण करते हुये भद्रबाहुस्वामी स्वर्गवासी हुये थे

१-संज्ञेहि०, भा० २ खंड १ पृ० २०३-२१८, श्रव० ३०-३२
जैशिसं० भूमिका ।

और चन्द्रगुप्त मुनिने भी वहाँसे समाधिमरण द्वारा स्वर्गलोक किया था । उत्तर भारतसे जैन संघके दक्षिण आगमनकी इस बातके बोधक दक्षिण भारतके वे स्थान भी हैं जहाँ आज भी बताया जाता है कि इस संघके मुनिगण ठहरे थे । अर्काट जिलेका तिरुमलय नामक स्थान इस बातके लिये प्रसिद्ध है कि वहाँ भद्रबाहुजीके संघवाले मुनियोंसे आठ हजार ठहरे थे ।

वहाँ पर्वत पर डेढ़ फुट लम्बे चरणचिह्न उसकी प्राचीनताके द्योतक हैं ।^१ इसी प्रकार हस्सन जिलेके हेमवृत्तनगर (जो हेमवती नदीके तटपर स्थित था ।) के विषयमें कहा जाता है कि वहाँ श्रुत-केवली भद्रबाहुजीके संघके मुनि उत्तर भारतसे आकर ठहरे थे ।^२ डेवर तामिल भाषाके प्रसिद्ध नीतिकाव्य ' नालादियार ' की रच्ना विषयक कथासे स्पष्ट है^३ कि उत्तर भारतसे दुर्भिक्षके कारण पीड़ित हुये आठ हजार मुनिगण पाण्ड्यदेश तक पहुंचे थे । पाण्ड्यनरेश उग्रपेरुवलीने उनका स्वागत किया था ।

पाण्ड्यनरेश उनकी विद्वत्तापर ऐसा मुग्ध हुआ कि वह उनसे अलग नहीं होना चाहता था । हठात् मुनियोंने अपनी धर्मरक्षाके लिये चुपचाप वहाँसे प्रस्थान कर दिया; परन्तु चलनेके पहले उन्होंने एक एक पद्य रचकर अपने-अपने आसन पर छोड़ दिया । यही ' नाला-दियार ' काव्य बन गया । सारांशतः इन उल्लेखों एवं अन्य शिला-

१-ममैप्राजैस्मा० पृष्ठ ७४ । २-मैमैकु०, भा० २ पृष्ठ २९६ ।

३-जैहि० भाग १४ पृष्ठ ३३२ ज्ञात नहीं कि पाण्ड्य नरेशका समय क्या है ?

लेखादिसे सम्राट् चन्द्रगुप्तका मुनि होकर श्रुतकेवली भद्रबाहुजीके साथ दक्षिणभारतमें आना स्पष्ट है ।

इन मुतियोंके आगमनके कारण वहां पहलेसे प्रचलित जैन धर्मको विशेष प्रोत्साहन मिला प्रतीत होता है । किन्तु इसी समय उत्तरभारतमें अभाग्यवश जैन संघ मतभेदका शिकार बन गया था; जिसके परिणामस्वरूप उसका एकधारारूप प्रवाह इधर उधर बह चला था । श्वेताम्बर संप्रदायके पूर्वरूपमें 'अर्द्धफालक' मान्यतावालोंका जन्म इसी समय होगया था और उपरांत वही विकसित होकर ईस्वी प्रथम शताब्दिमें स्पष्टतः श्वेताम्बर संप्रदायके नामसे प्रख्यात होगया था । मूल जैन संघके अनुयायी निर्ग्रन्थ कालांतरमें 'दिगंबर' नामसे प्रसिद्ध होगये थे । यह सब बातें हम पहले ही लिख चुके हैं ।^१

सम्राट् चन्द्रगुप्तके प्रसिद्ध मंत्री चाणक्यके विषयमें भी कहा जाता है कि वह जैन धर्मानुयायी थे

चाणक्य ।

और अपने अन्तिम जीवनमें वह जैन साधु हो गये थे । आखिर वह आचार्य हुये थे और अपने पांचसौ शिष्यों सहित देश-विदेशमें विहार करके वह दक्षिण भारतके वनवास नामक देशमें स्थित कौंचपुरमें आ विराजे थे । वहीं उन्होंने प्रायोपगमन सन्यास लिखा था ।^२ एक जनश्रुति चाणक्यको 'शुक्रतीर्थ' में एकान्तवास करने बताती है । संभव है कि यह 'शुक्रतीर्थ' जैनोका बरगोल या 'धवलसर' तीर्थ

१-संज्ञेहि० भाग २ खण्ड १ पृष्ठ २०३-२१७ ।

२-पूर्व पुस्तक पृष्ठ २३९-२४२ ।

हो ।^१ इन्हीं बातोंको देखते हुये विद्वज्जन जैन मान्यताको विश्वसनीय प्रगट करते हैं ।^२

चन्द्रगुप्तके समान ही उसका पोता सम्प्रति भी जैन धर्मका अनन्य भक्त था । वह धर्मवीर होनेके **सम्राट् सम्प्रति ।** साथ ही रणवीर भी था । कहते हैं कि उसने अफगानिस्तानके आगे तुर्क, ईरान आदि देशोंको भी विजय किया था । इन देशोंमें सम्प्रतिने जैन विहार बनवाये थे और जैन साधुओंको वहां भेजकर जनतामें जैन धर्मका प्रचार कराया था । विदेशोंके अतिरिक्त भारतमें भी सम्प्रतिने धर्मप्रभावनाके अनेक कार्य किये थे । उन्होंने दक्षिण भारतमें भी अपने धर्मप्रचारक भेजे थे ।^३

किन्तु सम्प्रतिके बाद मौर्यवंशमें कोई भी योग्य शासक नहीं हुआ । परिणाम स्वरूप मौर्य साम्राज्य छिन्नभिन्न होगया और दक्षिण भारतके राज्य भी स्वाधीन होगये । अशोकके एक धर्म-

१-जैसई० पृष्ठ ९ ।

२-" This co-incidence, if it were merely accidental, is certainly significant. Apart from minor details, this confirms the opinion of Rhys Davids that 'the linguistic and epigraphical evidence so far available confirms in many respects the general reliability of the traditions current among the Jains...' "

—Prof. S. R. Sharma, M. A.

३-संज्ञेई० मा० २ खण्ड १ पृष्ठ २९३-२९६ ।

लेखसे यह स्पष्ट है कि दक्षिणके चेर, चोल, पाण्ड्य राज्य पहलेसे ही स्वाधीन थे और मौर्योंके बाद आन्ध्रवंशी बलवान होगये ।

आन्ध्र-साम्राज्य ।

नर्मदा और विन्ध्याचलके उपरान्त दक्षिण दिशाके सब ही प्रांत 'दक्षिणापथ'के नामसे प्रसिद्ध थे।^१

दक्षिण भारतके दो भाग । परन्तु राजनैतिक दृष्टिसे उनके दो भाग हो जाते हैं । पहले भागमें वह प्रदेश आता है जो उत्तरमें नर्मदा तथा दक्षि-

णमें कृष्णा और तुङ्गभद्राके बीच है । और दूसरे भागमें वह त्रिकोणाकार भूभाग आता है जो कृष्णा और तुङ्गभद्रा नदियोंसे आरम्भ होकर कुमारी अंतरीपतक जाता है । यही वास्तवमें तामिल अथवा द्राविड़ देश है । इन दोनों भागोंकी अपेक्षा इनका इतिहास भी अलग-अलग होजाता है । तदनुसार यहां हम मौर्योंके बाद पहले भाग पर अधिकारी आन्ध्रवंशके राजाओंका परिचय लिखते हैं ।

अशोकके उपरांत आन्ध्रवंशके राजा स्वाधीन होगये थे । यह

लोग शातवाहन अथवा शालिवाहनके

आन्ध्र राजा । नामसे भी प्रसिद्ध थे ।^२ और इनके

राज्यका आरम्भ ईस्वी पूर्व ३०० के

लगभग हुआ था । चंद्रगुप्तके समयमें तीस बड़े बड़े प्राचीरवाले

१-गैव०, पृ० १३३ यूनानियोंने इसे 'दखिनवदेस' (Dakhinabades) कहा था । २-मैकु०, पृष्ठ १५ । ३-कामाड०, पृ० १९१ ।

नगर आन्ध्र राज्यके अंतर्गत थे । आन्ध्रोंकी सेनामें एक लाख प्यादे, दो हजार सवार और एक हजार हाथी थे । यूनानी लेखकोंने इन्हें एक बलवान शासक लिखा है । अशोकके मरते ही इन्होंने अपने राज्यको बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया और सन् २४० या २३० ई० पूर्वके लगभग पश्चिमी घाट पर गोदावरीके उद्भवके समीप नासिक-नगर उनके राज्यमें सम्मिलित होगया । घीरे-घीरे सारे क्षक्षिण प्रदेश पर समुद्रसे समुद्र पर्यन्त उनका राज्य होगया ।^१ कहते हैं, मगधको भी आन्ध्रोंने, खारवेलके साथ जीत लिया था ।^२ कलिङ्गके जैन सम्राट् खारवेलने आन्ध्र सम्राट् शतकर्णको परास्त किया था ।^३

इसीसे अनुमानित है कि मगधविजयमें वह खारवेलके साथ रहे थे । उनके समयमें पश्चिमकी ओरसे शक-छत्रपोंके आक्रमण भारत पर होते थे । आन्ध्रोंने उनसे बचनेके लिये अपनी राजधानी महाराष्ट्रके हृदय प्रतिष्ठान (पैठन)में स्थापित की थी । इनका पहला राजा सिसुक या सिन्धुक नामक था । इनका सारा राजत्वकाल करीब ४६० वर्ष बताया जाता है, जिसमें इनके तीस राजाओंने राज्य किया था ।^४

इस वंशके राजाओंमें गौतमी पुत्र शातकर्णि नामक राजा प्रख्यात था । नासिकके एक शिलाले-
गौतमीपुत्र शातकर्णि । खमें उसे 'राजाधिराज' और अशिक,
 अश्मक मूलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अग्रान्त,
 अनूप, विदर्भ और अकरावन्ती नामक देशों पर शासन करते लिखा

१-गैब०, पृ० १५४-१७२ । २-कुऐइ०, पृ० १५ । ३-जवि-
 ओसी०, भा० ३ पृ० ४४२ । ४-काभाइ०, पृ० १९१ ।

है । अनेक राजा-महाराजा उसकी सेवा करते और आज्ञा मानते थे । वह शरणागतोंकी रक्षा करता और प्रजाके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझता था । वह विद्वान्, सज्जनोंका आश्रय, यशका आगार, चारित्र्यका भंडार, विद्यामें अद्वितीय और एक ही धनुर्धर वीर था ।

उसने शक, यवन और पल्लवोंकी संयुक्त सेनाको परास्त करके भारतको महान संकटसे मुक्त किया था ।^१ इसी कारण वह 'विक्रमादित्य'के नामसे प्रसिद्ध हुआ था । उसका राजत्वकाल ई० पूर्व १००-४४ बनाया जाता है । प्रारम्भमें उसने ब्राह्मणोंके धर्मका पालन किया था, परन्तु अपने अंतिम जीवनमें वह एक जैन गृहस्थ होगया था । शकविजयकी स्मृतिमें उसका एक संवत् भी आरम्भ हुआ था जो आज तक प्रचलित है ।^२

गौतमीपुत्रके अतिरिक्त इस वंशके राजाओंमें हाल और

कुन्तलशातकर्णि भी उल्लेखनीय हैं । हाल

व्यापार ।

अपनी साहित्यिक रचनाओंके लिए प्रसिद्ध

हैं और कुन्तलने सन् ७८ ई० में पुनः

शकोंको हराकर आंध्रसाम्राज्यको स्वाधीन बनाया था । शाकवाहन शक इसी घटनाकी स्मृतिमें प्रचलित हुआ था ।

आंध्रकालमें देश स्मृद्धिशाली हुआ था । लोगोंमें उत्साह और साहसका संचार हुआ था, जिससे उन्होंने जीवनके प्रत्येक

१-वगै०, पृष्ठ १४९ । २-विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णिका विवेचनात्मक वर्णन 'संक्षिप्त जैन इतिहास' भाग २ खंड २ पृ०-६१-६६ में देखना चाहिए ।

अंगको उन्नत बनाया था । वणिज—व्यापार खूब ही वृद्धिको पहुंचा था । पश्चिमसे जहाज आकर भृगुकच्छके बन्दरगाहपर ठहरा करते थे । पैठनसे एक खास तरहका पत्थर और तगरपुर (तेरापुर) से मजलैन-साटनें, मारकीन आदि कपड़ा एवं अन्य वस्तुयें भृगुकच्छ गाड़ियोंमें ले जाई जाती थीं और वहांसे जहाजोंमें लदकर पश्चिमके देशों यूनान आदिको चली जाती थीं । सोपारा; कल्याण, सेमुल इत्यादि नगर व्यापारकी मंडियां थीं । लोगोंके लिये आने-जानेकी काफी सुविधा और उनकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध था । भारतीय व्यापारी निश्चित होकर देश-विदेशसे व्यापार करके समृद्धिको प्राप्त होगे थे ।

वाणिज्यके अनुरूप ही साहित्यकी भी आन्ध्रकालमें अच्छी

उन्नति हुई थी । आन्ध्रवंशके अनेक राजा

साहित्य । साहित्यरसिक थे और उनमेंसे किन्हीं ने स्वयं

ही रचनायें भी रची थी । सम्राट् हालकी

‘गाथा सप्तशती’ प्रसिद्ध ही है । परन्तु यह बात नहीं है कि आन्ध्रकालमें केवल प्राकृत भाषाकी ही उन्नति हुई हो, बल्कि संस्कृत भाषाको भी इस समय प्रोत्साहन मिला था । प्राकृत भाषाका प्रमुख ग्रन्थ ‘बृहत्कथा’ था, जो महाकवि गुणाढ्यकी रचना थी ।^१

कहा जाता है कि गुणाढ्यने कारणभूति नामक आचार्यसे जानकर कथासाहित्यका यह अद्वितीयग्रन्थ रचकर सालिवाहन राजाको भेंट किया था । यह कारणभूति एक जैनाचार्य प्रगट होते हैं ।^२ उधर

१-वर्गो पृष्ठ १७४-१७६ । २-वर्गो पृष्ठ १७०-१७१ ।

३-‘वीर’का ‘कहानी-अङ्क’ देखो ।

संस्कृत भाषाका अपूर्व व्याकरण 'कातन्त्र' भी एक साक्षिवाहन राजाके लिये रचा गया था । कहते हैं कि यह भी एक जैनाचार्यकी कृति थी । जैन विद्यालयोंमें इसका पठनपाठन आज भी होता है ।

लोगों ने वदिकधर्मके साथ-साथ बौद्धधर्म और जनधर्मका भी प्रचार था । सामाजिक संस्थायें प्रायः सुदूर दक्षिण देश जैसी ही थीं ।^१ 'कालकाचार्यक-

थानक'से प्रगट है कि पैठनके राजाके वह गुरु थे । जैन मुनियों और आर्यिकाओंका आवागमन राजप्रासादमें भी था । राजा और प्रजाको जैन गुरु धर्मकी शांति और सुखकर शिक्षा दिया करने थे । उनका धर्मोपदेश बहुकार्यकारी भी था । यही वजह है कि गौतमीपुत्र और हालके विषयमें अनुमान किया जाता है कि वे जैनधर्मानुयायी होगये थे । आन्ध्रदेश सघन वनों, पर्वतों और उपत्यकाओंसे परिपूर्ण था । प्रकृतिप्रिय जैनोंका ध्यान इस देशके सौन्दर्यकी ओर आकृष्ट हुआ । उनके संघ वहाँ पहुँचे और अपनी-अपनी 'पल्लि' स्थापित करके बस गये ।^२ सारा देश जैन मंदिरोंसे अलंकृत और जैन मुनियोंके धर्मोपदेशसे पवित्र होगया ।

१—"The Andhra or Satavahana rule is characterised by almost the same social features as the further south; but in point of religion they seem to have been great patrons of the Jains and Buddhists."—S. Krishnaswami Aiyangor in the Ancient India, page 34.

२-साइंजै०, भा० २ पृष्ठ ८९ ।

मुदूर दक्षिणके राज्य ।

(द्राविड़-राज्य)

गोदावरी और फिर कृष्णा एवं तुङ्गभद्रासे परे दक्षिण दिशामें जो भी प्रदेश था वह तामिल अथवा द्राविड़ राज्योंकी द्राविड़ नामसे परिचयमें आता था । यह द्राविड़ अथवा तामिलदेश तीन भागों अर्थात् चेर, चोल और पाण्ड्य मण्डलोंमें विभक्त था । पाण्ड्यमंडल 'पण्डि नाडु' नामसे विख्यात था और वह वर्तमानके मदुरा जिला जितना था ।^१ अशोकके समयमें पाण्ड्य राज्यमें मदुरा और तिनावलीके जिले गर्भित थे ।^२ मदुरा उसकी राजधानी थी, जो एक समय समृद्धिशाली बहुजनाकीर्ण और परकोटेसे वेष्टित नगर था । पाण्ड्योका दूसरा प्रमुख नगर कोर्कै (Korkai) था ।

चोलमंडलका दूसरा नाम 'पुनलनाडु' था और उरैयुर (उरगपुर) उसकी राजधानी थी, जो वर्तमानके टिंचनावली नगरके सन्निकट अवस्थित थी ।^३ चोल राज्यका विस्तार कोरोमण्डल जितना था । पुकर अर्थात् कावेरीपरम्पट्टनम् चोलोंका प्रधान बन्दरगाह था । प्राचीनकालमें चेरमण्डलका विस्तार मैसूर, कोडम्बटोर, मलेम, दक्षिण मालाबार, ट्रावनकोर और कोचीन जितना था । इसकी राजधानी कल्लूर अथवा

१-जमीसो०, भा० १८ पृष्ठ २१३ । २-लामाई० पृ० २८६ ।
३-जमीसो०, भा० १८ पृ० २१३ । ४-लामाई० पृ० २८६ ।

वेङ्गि थी और पाण्ड्यदेश इससे पश्चिममें था । यह तीन राज्य ही दक्षिण भारतमें प्रमुख थे ।

दक्षिणके इन तीनों राज्योंका उल्लेख सम्राट् अशोकके धर्म-लेखमें हुआ है ।^२ और सम्राट् खारवेलके शिलालेख और शिलालेखमें भी इनका उल्लेख मिलता है ।^३ परन्तु साहित्यमें इन तीनों राज्योंका अस्तित्व एक अति प्राचीनकालसे सिद्ध होता है । 'कात्यायन-वार्त्तिका' में पाण्ड्य, चोल आदिका उल्लेख है ।^४ पातञ्जलिने इसी प्रकार माहिष्मती, वैदर्भ, काञ्चीपुर और केरलका उल्लेख किया है ।^५ 'महाभारत' (वनपर्व ११८) में द्राविड़ देशकी उत्तरीय सीमामें गोदावरी नदीका उल्लेख है । यूनानी लेखकों टोल्मी आदिने भी इन देशोंका उल्लेख किया है ।^६

उधर जैन साहित्यसे भी चेर, चोल और पाण्ड्य राज्योंका प्राचीन अस्तित्व प्रमाणित है । महाराज जैन साहित्यमें कृष्णक युद्ध जब जरासिंधुसे हो रहा था द्राविड़ देशके राजा भी उनके पक्षमें थे ।^७ मालूम होता है कि पाण्ड्योंके दक्षिण मथुरामें राज्य स्थापित करनेके कारण उन राज्योंका सम्पर्क उत्तर भागीय राज्योंसे घनिष्ठतामें परिणत हो गया था । चेर-चोल-

१-कच० पृष्ठ २५० । २-अध० पृष्ठ ११३-११९ । ३-जविओसो० भा० ३ पृ० ४४६ । ४-बग० पृ० १३८ । ५-महामाध्य, १. १, १९ । ६-बग० पृ० १३८-१४२ । ७-हरि० पृ० ४६८ ।

पाण्ड्य, इन द्रविड़ राज्योंका युधिष्ठिरादि पाण्डवोंसे गहरा सम्बन्ध था। विदित होता है कि जिस समय पल्लवदेशमें विराजमान भगवान् अरिष्टनेमिके निकट पाण्डवोंने जिनदीक्षा ली थी, उसी समय इन द्रविड़ राजाओंने भी मुनिव्रत धारण किया था। पाण्डवोंके साथ तप तपकर वह भी शत्रुंजयगिरिसे मुक्त हुये थे।^१

भगवान् अरिष्टनेमिके तीर्थमें ही कामदेव नागकुमार हुये थे। नागकुमारका मित्र मथुराका राजकुमार महाव्याल था। यह महाव्याल पाण्ड्यदेश गया था और पाण्ड्य राजकुमारीको व्याह लाया था।^२ इसके पश्चात् भ० पार्श्वनाथके तीर्थकालमें करकण्डु राजा हुये थे, जिन्होंने चेर, चोल और पाण्ड्य राजाओंको युद्धमें परास्त किया था। करकण्डुको यह जानकर हार्दिक दुःख हुआ था कि वे राजा जैनी थे। उन्होंने उनसे क्षमा चाही और उनका राज्य उन्हें देना चाहा; परन्तु वे अपने पुत्रोंको राज्याधिकारी बनाकर स्वयं जैन मुनि होगये थे।^३

इन उल्लेखोंसे चेर, चोल, पाण्ड्य राज्योंका प्राचीन अस्तित्व ही नहीं बल्कि उनके राजाओंका जैनधर्मानुयायी होना भी स्पष्ट है। दक्षिणभारतमें अरुन्तर पर्वत, ऐवर मलै, तिरुमुर्ति पर्वत इत्यादि

१—पंडुसुभा तिण्णिज्जण्णा दविडण्णिंदाण अट्ठकोडिओ ।

सेतुजय गिरिसिंहे णिव्वाणमया णमो तेसिं ॥”

२—‘गंभीरविजयदुट्टुहिण्णिगाउ-दाहिणमट्टाहिउ पंडिगाउ’

-णायकुमारचरित ८।२

३—कच० पृष्ठ ७९-८० ।

स्थान ऐसे हैं जिनसे प्रगट होता है कि वहां पाण्डवादि प्राचीन महापुरुष पहुंचे थे ।^१

दक्षिणके इन तीनों राज्योंमें पाण्ड्य राज्य प्रधान था । राज-

त्वकी अपेक्षा ही नहीं बल्कि सभ्यता

पाण्ड्य राज्य । और संस्कृतिके कारण पाण्ड्यवंशको ही

प्रमुख स्थान प्राप्त है । उनका एक दीर्घ-

कालीन राज्य था और उसमें उन्होंने देशको खूब ही समृद्धिशाली बनाया था ।^२ पाण्ड्यराज्य अति प्राचीन कालसे रोमवालोंके साथ व्यापार करता था । कहा जाता है कि पाण्ड्यराजाने सन् २५ ई० पू० में अगस्टस सीजरके दरबारमें दूत भेजे थे । यून्दी लोगोके साथ नम्र श्रमणाचार्य भी यूनान गये थे ।^३ यूनानमें भारतीय कपड़ेकी बहुत खपत थी ।

रोमन ग्रंथकार पीटर वीनसको इस बातका सन्देह था कि यूनानी रमणियां भारतीय परिधान पहनकर निर्लज्जताकी दोषी होती हैं । वह भारतकी मलमलको ' तुनी हुई पवन ' के नामसे पुकारता है । किनी एवं अन्य यूनानी लेखकोंने शिकायत की है कि यूनानका करोड़ों रुपया विलासिताकी वस्तुओंके मूल्यमें यूनानसे भारत चला जाता है । उस समय रुई, ऊन और रेशमके कपडे बनते थे । उनके वस्त्रोंमें सबसे नफीस चूड़ोंकी ऊन गिनी जाती थी । रेशमके कपड़े तीस प्रकारके थे ।^४ सारांश यह कि पाण्ड्य राजत्वकालमें यहां विद्या, कला और विज्ञानकी खूब उन्नति हुई थी ।

१-जमीसो० भा० २५ पृष्ठ ८८-८९ । २-जमीसो०, भा० १८ पृ० २१३ । ३-इहिकवा०, भा० २ पृष्ठ २९३ । -लाभाइ०, पृष्ठ २८७-२८८

पाण्ड्य राजके समयमें अर्थात् ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दिमें
पाण्ड्य देशमें पानीका सीलाव आया
पाण्ड्य विजय । था, जिसमें कुमारी और पहरुलि
नामक नदियोंका मध्यवर्ती प्रदेश जल-
मग्न होगया था । अपनी इस क्षतिकी पूर्ति पाण्ड्य राजने चोल-चेर
राजाओंके कुन्दुर और मुत्तुर नामक जिलोंपर अधिकार जमाकर की
थी । इस विजयके कारण यह पाण्ड्यराज नीलन्तरु तिरुवीर पाण्ड्यन्
कहलाये थे । इन्हींके समयमें द्वितीय 'संगम् साहित्य परिषद'
हुई थी ।^१

पाण्ड्यवंशकी इस मूल शाखाके अतिरिक्त दो अन्य शाखा-
ओंका भी पता चलता है । ईस्वी
बारुकुरुके पाण्ड्य । प्रथम शताब्दिमें मधुरा पाण्ड्यवंशके
एक देव पाण्ड्य नामक राजकुमार तौलव
देशान्तर्गत बारुकुरुमें आ बसे थे । और वहीं किसी जैनीकी
कन्यासे उनका व्याह हुआ था । कालान्तरमें वह बारुकुरुको राज-
धानी बनाकर शासनाधिकारी हुये थे । इनके उत्तराधिकारी इनके
भानजे भूताल पाण्ड्य थे जो कदम्ब सम्राट्के आधीन राज्य करते
थे । इसी समयसे पाण्ड्य देशमें निज पुत्रके स्थानपर भानजेको
उत्तराधिकारी होनेका नियम प्रचलित हुआ था । भूतालके पश्चात्
क्रमशः विद्युन्न पाण्ड्य (सन् १४८ ई०), वीर पाण्ड्य (सन् २६२
ई० तक), चित्रवीर्य पाण्ड्य (सन् २८१ ई०) देववीर पाण्ड्य

(सन् २९० ई०), बलवीर पाण्ड्य (सन् ३१६ ई०) और जयवीर पाण्ड्य (सन् ३४३ ई०) ने राज्य किया था । इसके आगे इस पाण्ड्यवंशका पता नहीं चलता ।^१

पाण्ड्यवंशकी एक दूसरी शाखा कारकलमें राज्याधिकारी थी । जिस समय तौलव देशका शासन कारकलके पाण्ड्य । कापिट्टु हेगडे कर रहा था, उस समय प्रजा उसके दुःशासनके कारण ऊब गई थीं । भाग्यवशात् कारकलमें हुम्बुच्चके शासक जिनदत्तरायके वंशज भैरव पाण्ड्य मूडविट्टी तीर्थकी यात्रा करके आ निकले । दुखी प्रजाने उनसे जाकर अपनी दुख गाथा कही । भैरव पाण्ड्यने हेगडेको बुलाकर समझाया, परन्तु उसपर उनके समझानेका कुछ भी असर नहीं हुआ । हठात् उन्होंने हेगडेको युद्धमें परास्त करके उसके प्रदेशपर अधिकार जमाया । इनके उत्तराधिकारी कारकलमें आरहे और निम्नलिखित शासकोंने वहां रहकर राज्यशासन किया था ।

(१) पाण्ड्य देवरस या पाण्ड्य चक्रवर्ती, (२) लोकनाथ देवरस, (३) वीर पाण्ड्य देवरस, (४) रामनाथ अरस, (५) भैरवस ओडेय, (६) वीर पाण्ड्य भैरवस ओडेय, (७) अभिनव पाण्ड्यदेव, (८) हिरिय भैरवदेव ओडेय, (९) इम्मडि भैरवराय, (१०) पाण्ड्यप ओडेय, (११) इम्मडि भैरवराय, (१२) रामनाथ और (१३) वीर पाण्ड्य ।^२

१-जैसिभा०, भा० ३ किरण ३ पृष्ठ ९२ । २-पूर्व० पृष्ठ ९३ ।

पाण्ड्यराज्यमें उस समय धार्मिक सहिष्णुता भी प्रचुरमात्रामें

विद्यमान थी । 'मणिमेखलै' नामक

धर्म ।

तामिल महाकाव्यमें एक स्थल पर एक

नगरके वर्णनमें कहा गया है कि 'प्रत्येक

धर्माश्रमका द्वार हर भक्तके लिये खुला रहना चाहिये । प्रत्येक धर्मा-

चार्यकी अपने सिद्धांतोंका प्रचार और शास्त्रार्थ करने देना चाहिये ।

इस तरह नगरमें शांति और आनंद बढ़ने दीजिये ।'^१ यही बजह

थी कि उस समय ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों धर्म प्रचलित हो रहे

थे । लोगोंमें जैन मान्यतायें खूब घर किये हुये थीं, यह बात 'मणि-

मेखलै' और 'शीलप्यधिकारम्' नामक महाकाव्योंके पढ़नेसे स्पष्ट

होजाती है । 'मणिमेखलै' में ब्राह्मणोंकी यज्ञशालाओं, जैनोंकी महान

पल्लियों (hermitages), शैवोंके विश्रामों और बौद्धोंके संघारा-

मोंका साथ-साथ वर्णन मिलता है ।^२ यह भी इन काव्योंसे प्रगट है

कि पाण्ड्य और चोल राजाओंने जैन और बौद्ध धर्मोंको अपनाया

था । मधुरा जैन धर्मका मुख्य केन्द्र था ।

'मणिमेखलै' का मुख्य पात्र कोबलन अपनी पत्नी सहित

१-जैसाइ०, पृष्ठ २९ । २-बुस्ट०, पृष्ठ ३ ।

३-"It would appear that there was then perfect religious toleration, Jainism advancing so far as to be embraced by members of the royal family.....The epics give one the impression that there two (Jain & Buddhist) religions were patronised by the Chola as well as by the Pandym Kings."—साइजै० पृष्ठ ४६-४७ ।

जिस समय मधुराको जारहा था तो मार्गमें एक जैनीने उन्हें सावधान किया था कि वे वहां पहुंचकर किसी जीवको पीड़ा न पहुंचाये और न हिंसा करें, क्योंकि वहां निर्ग्रन्थ (जैनी) इसे पाप बताते हैं । पुहरनगरमें जब इन्द्रोत्सव हुआ तो राजाने सब ही सम्प्रदायोंको निमंत्रित किया । जैनी भी पहुंचे और अपना धर्मोपदेश दिया, जिसके फलरूप अनेकानेक मनुष्य जैन धर्ममें दीक्षित हुए ।

‘शीलपघिकारम्’ काव्यसे प्रगट है^१ कि उसके मुख्य पात्र मधुराकी यात्रा करने गये थे । मधुरा उस समय तीर्थ समझा जाता था । वहां पासमें अनेक जैन गुफायें थीं, जिनमें जैन मुनि तपस्या किया करते थे । ‘आराधना कथाकोष’ से प्रगट है कि भ० महावीरके उपरान्त वहांपर एक सुगुप्ताचार्य नामके महान् साधु हुये थे ।^२ मधुराकी यात्राको चलकर वे पात्र पहले जैन साधुओंकी एक ‘पल्लि’ में ठहरे थे । वहां चिकने संगमरमरका चबूतरा था, जिसपरसे जैनाचार्य उपदेश दिया करते थे । उन्होंने उसकी परिक्रमा दे वन्दना की । वहांसे चलकर उन्हें कावेरी नदीके तटपर आर्यिकाओंका आश्रम मिला । देवन्धि आर्यिका मुख्य थी, वह भी उनके साथ होली । जैन आर्यिकाओंका प्रभाव उस समय तामिल स्त्रीसमाजमें खूब था । आगे कावेरीके बीच टापूमें भी उन्होंने जैन साधुके दर्शन किये । सारांश यह कि उन्हें ठौर-ठौरपर जैन मुनियों और आर्यिकाओंके दर्शन होते थे । इससे वहां जैनधर्मका बहु प्रचलित होना स्पष्ट है ।

१-साइंजै० पृष्ठ ४७-४८ । २-जैसाइं० पृष्ठ २९ । ३-आक० ।

चोल प्रदेशका नाम चोलमण्डल था, जिसका अपभ्रंश कोरो-
मण्डल होगया । उसके उत्तरमें पेन्नार और
चोल राज्य । दक्षिणमें वेल्लारु नदी थी । पश्चिममें यह
राज्य कुर्गकी सीमातक पहुंचता था । अर्थात्
इस राज्यमें मदरास, मैसूरका बहुतसा इलाका और पूर्वीसागर तट-
पर स्थित बहुतसे अन्य ब्रिटिश जिले मिले हुए थे । प्राचीनकालमें
इस राज्यकी राजधानी उरईऊर (पुरानी तृचनापली) थी । और
तब इसका पश्चिमके साथ बहुत विस्तृत व्यापार था । तामिल
लोगोंके जहाज भारतमहासागर तथा बङ्गालकी खाड़ीमें दूर-दूर
तक जाते थे ।

कावेरीप्पुमपट्टनम् इस देशका बड़ा बंदरगाह था । चोलराजा-
ओंमें प्रमुख कारिकल नामका राजा था जिसने लंकापर आक्रमण
किया था और कावेरीका बांध बांधा था । इस राजाकी नाम अपेक्षा
एक जिनालय भी स्थापित किया गया था, जिससे इस राजाका जैन-
धर्मप्रेमी होना स्पष्ट है ।^२

पाण्ड्य और चोल राज्योंके समान ही चेर अथवा केरल राज्य
था । चेर राजाओंके इतिहासमें विशेष
चेर राज्य । उल्लेखनीय बात यह है कि उनके
राज्यकालमें देहांतका शासन अधि-
कांशमें प्रजातन्त्र नियमोंपर चलाया जाता था, जिसका प्रभाव सारे
राज्यपर पड़ा हुआ था । गांवोंमें भिन्न भिन्न सभायें प्रबन्ध और

१-लाभाइ० पृष्ठ २९१-२९२ । २-साइंजै०, भा० २ पृष्ठ ३८ ।

विचार सम्बन्धी अधिकारोंका उपयोग करती थीं ।^१ एक समय कोंगुनाडु प्रदेश भी चेर राज्यके अन्तर्गत था, जिसमें वर्तमानका कोहम्बटूर जिला, सलेमका दक्षिण-पश्चिमी भाग, त्रिचनापली जिलेका करूर तालुक और मदुरा जिलेका पलनी तालुक गर्भित था ।

कवि अरुनगिरिनाथरने कोंगु देशपर चेर अधिकारका उल्लेख किया है । बेल्लोरके शिलालेखमें कोक्कुन रवि और रवि कोट्टै नामक चेर राजाओंका उल्लेख है ।^२ प्राचीनकालमें चेर राजा अति प्रभावशाली थे और उनका सम्बन्ध उत्तर भारतके राजाओंसे था । सम्राट् श्रेणिकने एक केरल राजाकी सहायता की थी, यह पहले लिखा जा चुका है । इससे भी पहले हस्तिनापुरके कुरुराजके सहायककोंगु और कर्णाटकके राजा थे ।^३

चेर राजत्वकालमें भी धार्मिक उदारता उल्लेखनीय थी । एक ही घरमें जैन और शैव साथ-साथ धर्म । रहते थे । 'शीलप्पधिकारम्' काव्यके कर्त्ता चेर राजकुमार इलन्गेवदिगल जैनी थे, जबकि उनके भाई सेंगुत्तुवन एक शैव थे ।^४ तो भी उस समय चेर देशके निवासियोंमें जैन धर्मका खूब ही प्रचार था । ईस्वी पहली-दूसरी शताब्दिमें कोंगु देशके पहले तीन चेर राजाओंके

१—ताभाई०, पृष्ठ २९२ । २—जमीसो०, भा० २१ पृष्ठ ३९-४० ।

३—'जहि अम्भोदृजदृजालंधर मारुअटककीरखसबधर ।

मरुवेयंग कुंग वेराडिवि गुज्जरगोडलाडकनाडवि ॥'

—मविसयत्तकहाए सूरामः सन्धिः ।

४—साइज०, भा० १ पृष्ठ ४६-४७ ।

गुरू जैनाचार्य थे; बल्कि पांचवी शताब्दि तक उस वंशके राजा गुरू जैनी ही रहे । चेर राजा कुमार इलङ्गको आदिगलके पितामह एक महावीर थे । एक युद्धमें उनकी पीठमें घातक आघात पहुंचा । उन्होंने अपना अन्त समय निकट जानकर सल्लेखना व्रत स्वीकार किया था ।

राजकुमार इलङ्गोवर्द्ध भी जैन मुनि हुये थे । कोंगु देशमें अनेक प्राचीन स्थान ऐसे हैं जिनसे प्राचीनकालमें जैन धर्मका बहु प्रचार स्पष्ट होता है । विजियमङ्गलम् नामक स्थानपर चन्द्रप्रभ तीर्थङ्करका एक जैन मंदिर है । उसमें पांचों पाण्डवोंकी तथा भगवान् ऋषभदेवकी भी मूर्तियां हैं । मंदिरके पांचवें बड़े कमरेमें पत्थरमें आदीश्वर भगवानकी जीवन घटनायें अङ्कित हैं ।^१

इस प्रकार इन तीनों द्रविड राज्योंमें प्राचीनकालसे जैन धर्म प्रधान रहा था । इन राजवंशोंके राजत्वका क्रम यह था कि पहले चोळराज प्रधान थे; उनके बाद चेर राजाओंका प्राबल्य रहा । अन्तमें पाण्ड्यराज प्रमुख सत्ताधीश हुये । पाण्ड्योंके उपरान्त पल्लव, चालुक्यादिकी प्रधानता हुई थी, जिनका इतिहास आगे लिखा जायगा ।

द्राविड राजाओंके राजत्वकालमें तामिलदेशका व्यापार भी खूब उन्नतिपर रहा था । निस्सन्देह दक्षिण-
व्यापार । भारतका व्यापार तब एक ओर उत्तरभारतसे होता था तो दूसरी ओर योरुपके देशोंसे भी

१-जैसाई०, पृष्ठ २९-३० व गैमैकु०, भा० १ पृष्ठ ३७० ।

२-जमीसो०, भा० २९ पृष्ठ ८७-९४ ।

वहांका व्यापार खूब चलता था । ऊर (Ur) जैसे प्राचीन नगरके ध्वंसावशेषोंमें जैतूनकी लकड़ी मिली है जो मलाबारसे वहां पहुंची अनुमान की जाती है । सोना, मोती, हाथीदांत, चांबल, मिर्च मोर, लंगूर आदि वस्तुयें दक्षिणभारतकी उपज थीं जो द्राविड़ जहाजोंमें लादकर बैबिलन, मिश्र, यूनान और रोमको भेजी जाती थीं । इस व्यापारका अस्तित्व ईस्वी पूर्व ७ वीं या ८ वीं शताब्दिसे भी पह-लेका प्रमाणित होता है ।^१

रोमन सिक्के तामिलनाडुसे उपलब्ध हुए हैं, जिनसे तामिल देशमें पश्चिमात्य व्यापारियोंका अस्तित्व सिद्ध होता है । उन्हें लोग 'यवन' कहते थे और इन यवनोंका उल्लेख कई तामिल काव्योंमें है । तामिलराजागण इन विदेशियोंको अपनी फौजमें भरती करते थे और उनके आत्मरक्षक भी यह होते थे । कावेरीपुमपट्टनम्में इन यवनोंका एक उपनिवेश था ।^२

तामिलोंका रहन-सहन और दैनिक जीवन सीधा-सादा था ।

उनकी पोशाक समाजमें व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और मर्यादाके अनुसार भिन्न-भिन्न थी ।

मध्यश्रेणीके लोग बहुधा दो वस्त्र धारण करते थे । एक वस्त्रको वे अपने सिरसे लपेट लेते थे और दूसरेको कम-रसे बांध लेते थे । सैनिकलोग बरदी पहनते थे । सरदार लोग मौस-मके अनुकूल वस्त्र पहनते थे । लड़कोंकी शादी १६ वर्षकी उम्रमें और लड़कियोंकी १२ वर्षकी अवस्थामें होती थी ! विवाहके लिये यही उम्र ठीक समझी जाती थी ! मृत व्यक्तियोंके दाहस्थानोंपर

१-हिप्पारुडु० पृष्ठ १९८....। २-जमीसो० भा० १८ पृष्ठ २१३ ।

मंदिर और निषधि बनानेका भी रिवाज था । संग्राममें वीरगतिको प्राप्त हुये योद्धाओंकी स्मृतिस्वरूप 'वीरपाषाण' बनाये जाते थे जो 'वीरगल' कहलाते थे और उनपर लेख भी रहते थे ।^१

तामिल जातियोंके राजनैतिक नियम भी आदर्श थे । राजाको राज्यप्रबन्धमें सहायता करने और ठीक-
राजनैतिक प्रबंध । ठीक व्यवस्था करानेके लिये पांच प्रकारकी सभायें थीं अर्थात् (१) मंत्रियोंकी सभा, (२) पुरोहितोंकी सभा, (३) सैनिक अधिकारियोंकी सभा, (४) राजदूतोंकी सभा और (५) गुप्तचरोंकी सभा । इन सभाओंमें कुछ सदस्य जनताके भी रहते थे । उसपर पण्डितों और सामान्य विद्वानोंको अधिकार था कि जिस समय चाहें अपनी सम्मति प्रगट करें ।

उपरोक्त सभाओंमें पहली सभाका कार्य महकमे माल और दीवानीका प्रबन्ध करना था । दूसरी सभा सभी धार्मिक संस्कारोंको सम्पन्न करानेके लिये नियुक्त थी । तीसरी सभाका कर्तव्य जिसका नायक सेनापति होता था, सेनाकी समुचित व्यवस्था रखना था । शेष दो सभाओंके सदस्य राजाको संधि-विग्रहादि विषयक परामर्श देते थे । गांवोंके प्रबन्धके लिये 'गांव पंचायतें' थीं । न्याय निःशुल्क दिया जाता था—भाजकलकी तरह उसके लिये 'कोर्टफीस'में 'स्टाम्प' नहीं लगता था । दण्ड व्यवस्था कड़ी थी—इसी कारण अपराध भी कम होते थे ।^२

१—जमीसो० भा० १८ पृष्ठ २१४ । २—कासाइ० पृष्ठ २८९ व जमीसो० भा० १८ पृष्ठ २१४-२१५ ।

तामिल राजाओंके समयमें शिक्षाका खूब प्रचार था । स्त्रियां भी स्वतंत्रतापूर्वक विद्याध्ययन करती थीं । उनमें कई स्त्रियां अच्छी कवियत्री थीं । उनमें कई स्त्रियां अच्छी कवियत्री थीं । विद्वत्ता भी केवल उच्च वर्णके लोगों तक सीमित न थी । हरकोई अपनी बुद्धि—कौशलका प्रदर्शन कर सकता था । उच्च कोटिके साहित्यका निर्माण ठीक हो और साहित्य प्रगतिको प्रोत्साहन मिले, इसलिये एक 'संघम्' नामकी सभा स्थापित थी; जिसमें उद्भट विद्वान् और राजा रचनाओंकी समालोचना करके उन्हें प्रमाणता देते थे ।

इस संघम्कालके लगभग पचास अनुष्ठे तामिल ग्रंथ आजतक उपलब्ध हैं जो इतिहासके लिये महत्वकी चीज हैं ।^१ जैनाचार्य भी इस 'संघम्' में भाग लेते थे और तामिलका आरम्भिक साहित्य अधिकांश जैनाचार्योंका ऋणी है । पाण्ड्य राजा 'पाण्ड्यन उर्ग' पेरु वलुडि ने इस संघम्-सभामें उल्लेखनीय भाग लिया था । उन्हींके समक्ष तामिलका प्रसिद्ध काव्य 'कुरल' संघम्में उपस्थित किया गया था और स्वीकृत हुआ था । उस समय ४८ महाकवि विद्यमान थे । 'कुरल' जैनाचार्यकी रचना है, यह हम आगे प्रगट करेंगे । उस समय एक तामिल कवियित्री अनवैय्यार नामक थी । उसने राजाकी प्रशंसामें एक सुंदर रचना रची थी ।^२

तामिल राज्यमें वैदिकधर्म और बौद्धधर्मके अतिरिक्त जैनधर्म

- १—ढाभाइ० पृष्ठ २८९-२९० व जमीसो० भा० १८ पृष्ठ २१५ ।
२—ममप्राज्ञैस्मा० पृष्ठ १०५ ।

दक्षिण भारतका जैन-संघ ।



जैनियोंमें संघ-परम्परा अति प्राचीन है । जैन शास्त्रोंसे पता चलता है कि आदि तीर्थंकर ऋष-
जैन-संघकी प्राचीनता भदेवके समयमें ही उसका जन्म
और होगया था । ऋषभदेवके संघमें मुनि,
उसका स्वरूप । आर्यिका, श्रावक और भाविका,
 संमिलित थे । वह संघ विभिन्न

गणोंमें विभाजित था, यह बात इससे प्रमाणित है कि शास्त्रोंमें ऋष-
 भदेवके कई गणधरोंका उल्लेख है^१ परन्तु उन गणोंमें परस्पर कोई
 मार्मिक भेद नहीं था । उनका पृथक् अस्तित्व केवल संघ व्यवस्थाकी
 सुविधाके लिये था । जैन-संघकी यह व्यवस्था, मालूम होता है
 भगवान महावीरके समय तक अक्षुण्ण रूपसे चली आई थी, क्योंकि
 जैन एवं बौद्ध ग्रन्थोंसे यह प्रगट है कि भगवान महावीरका अपना

१-ऋषभदेवके ८४ गणधरोंका अस्तित्व सभी जनी मानते हैं ।
 देखो जैपं०, भा० २ पृ० ८१ । २-कसू०.....व भम० पृष्ठ
 ११३-१२१ । ३-बौद्धग्रन्थ 'दीधनिकाय' में भ० महावीरके विष-
 यमें एक उल्लेख निम्नप्रकार है:-

“अयम् देव निगंठो नातपुत्तो संघो चैव गणी च गणाचार्यो
 च ज्ञातो यसस्सो, तित्थकरो साधु सम्मतो बहुजनस्स रत्तस्सु चिरप-
 व्वजितो अद्दगतो वयोअनुपत्ता ॥” (भा० १ पृ० ४८-४९) ।

इस उल्लेखमें निर्ग्रिय ज्ञातपुत्र (भ० महावीर) को संघका नेता
 और गणाचार्य दिखा है, जिससे स्पष्ट है कि भ० महावीरका संघ था
 और उसमें गण भी थे ।

संघ था जो कई गणोंमें विभक्त था । इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणवर उन गणोंकी सार-संभाल करते थे । किन्तु प्रश्न यह है कि इस प्राचीन संघका बाह्य भेष और क्रियायें क्या थीं ? खेद है कि हम पञ्चरा पूर्ण और यथार्थ उत्तर देना एक प्रकारसे असंभव है, क्योंकि ऐसे कोई भी साधन उपलब्ध नहीं हैं जिनसे उस प्राचीन कालका प्रामाणिक और पूर्ण परिचय प्राप्त होसके । परन्तु तौमी स्वयं दिगम्बर एवं श्वेताम्बर^२ जैन शास्त्रों और ब्राह्मण एवं बौद्ध ग्रन्थों^३ तथा आगतीय पुरातत्त्वोंसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन-मगवान

१-महापुराण, उत्तरपुराण, तथा मूलाचारादि ग्रन्थ देखिये ।

२-‘कल्पसुत्र’ में लिखा है कि म०ऋषभदेव उपरान्त यथा-जात-नग्नभेषमें रहे थे और यही बात भ० महावीरके विषयमें उस ग्रन्थमें लिखी हुई है ।

३-‘भागवत’ में ऋषभदेवको दिगम्बर साधु लिखा है । (मम० पृष्ठ ३८) जावालोपनिषद् आदि इतर उपनिषदोंमें ‘यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ’ साधुओंका उल्लेख है । (दिमु० पृ० ७८) ऋग्वेद (१०।१३६), वराहमिहिर संहिता (१९।६१) आदिमें भी जैन मुनियोंको नग्न लिखा है ।

४-महावग्ग ८, १९; ३ । १, ३८; १६, चुल्लवग्ग ८, २८, ३, संयुत्तनिकाय २, ३, १०, ७. जातकमाला (S. B. B. I) पृ० १४, दिव्यावदान पृ० १६५, विज्ञाखावत्थु-धम्म-पदङ्क-कथा (P. T. S., Vol. I) भा० २ पृ० ३८४ इत्यादिमें जैन मुनियोंको नग्न लिखा है ।

५-मोहनजोदरोके सर्व प्राचीन पुरातत्त्वमें श्री ऋषभदेव जैसी बौद्ध चिन्हयुक्त खट्वासन नग्न मूर्तियां मुद्राओंपर अंकित हैं (भारि० अगस्त १९३२) मौर्यकालकी प्राचीन मूर्तियां नग्न ही हैं (जैसिभा० भा० ३ पृ० १७) ।

महावीरसे भी प्राचीन-जैन-संघके साधु नम्र-यथाजातरूपमें रहते थे—वह अनौद्देशिक भोजन दिनमें एकवार करते थे—निमंत्रण स्वीकार नहीं करते थे—जनोपकारमें तल्लीन रहते थे । वसतीमें बहुत दूर श्रद्धांवास करते थे ।^१ श्रावक और श्राविकायें उनकी भक्ति बंदना करते थे । उनमेंसे प्रमुख महापुरुषोंकी वे मूर्तियाँ और निषिद्धायें बनाकर उनकी भी पूजा किया करते थे । म० महावीरके संघके अती श्रावक श्वेत बस्त्र पहना करते थे ।^२ साधारणतः प्राचीन जैन संघकी यह रूपरेखा थी ।

दक्षिण भारतमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा ही जैनधर्मका

प्रचार होगया था । यह पहले लिखा

**दक्षिण भारतीय
जैन संघ ।**

जा चुका है । और चूँकि ऋषभदेव स्वयं

दिगम्बर भेषमें रहे थे, इसलिये दक्षिण

भारतीय जैन संघके साधुगण भी उन्हींकी

तरह नम्र भेषमें विचरते थे । दक्षिण भारतकी प्राचीन मूर्तियोंसे यही

प्रगट है कि उस समयके जैन साधुगण नम्र रहते थे ।^३ वे साधुगण

अपने प्राचीन नाम 'श्रमण' से प्रसिद्ध थे और जैन संघ 'निग्रन्थ—

संघ' कहलाता था ।^४ तामिलके प्राचीन काव्योंसे स्पष्ट है कि उनके

रचनाकालमें दिगम्बर जैन धर्म ही दक्षिण भारतमें प्रचलित था ।

विद्वानोंका मत है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके गुरु श्रुतकेवली भद्र-

१-भमबु० पृ० ६१-६५ । २-भमबु० पृ० ६०-६१ ।

३-ममैजैस्मा० पृष्ठ १५, ४१, ५२, ६१, ६९, ७४ व १०७; कच०

भूमिका व चित्र देखो । ४-साइंजै पृ० ४७ व जैसाइं० पृ० ४० ।

नाहुजीके साथ ही जैन धर्मका प्रवेश दक्षिण भारतमें हुआ; परन्तु जैन मान्यताके अनुसार दक्षिण भारतका जैन संघ उतना ही प्राचीन था, जितना कि उत्तर भारतका जैन संघ था । यही बजह थी कि उत्तरमें अकाल पड़ने पर धर्मश्रद्धाके भावसे भद्रबाहु स्वामी अपने संघको लेकर दक्षिण भारतको चले आये थे । उनका ही संघ ज्ञात-रूपमें दक्षिणका पहला दिगम्बर जैन संघ प्रमाणित होता है । इसके पहले और कौन-कौन जैन संघ थे, इसका पता लगाना इस समय दुष्कर है । यह संघ मुनि, आर्यिका, ब्राह्मक और आधिकारूप चारों अङ्गोंमें बंटा हुआ सुव्यवस्थित था । द्राविड लोगोंमें इसकी खूब ही मान्यता थी ।^१ विद्वानोंका मत है कि द्राविड लोग प्रायः नाग-जातिके वंशज थे । जिस समय नागराजाओंका शासनाधिकार दक्षिण भारतपर था, उस समय नागलोगोंके बहुतसे रीति-रिवाज और संस्कार द्राविड़ोंमें धर कर गये थे । नागपूजा उनमें बहुत प्रचलित थी । जैन तीर्थंकरोंमें दो सुपाश्व और पार्श्वकी मूर्तियां नागमूर्तियोंका

१—"The fact that the Jaina community had a perfect organisation behind it shows that it was not only popular but that it had taken deep root in the soil. The whole community, we learn from the epics, was divided into two sections, the Sravakas or laymen and the Munis or ascetics. The privilege of entering the monastery was not denied to women and both men and women took vows of celibacy."

—S.I.J. P. 49.

सादृश्य रहती थीं और जैनोकी पूजाप्रणाली भी अति सरल थी । द्वाविड़ोंने उसको सहजमें ही अपना लिया था । जैनोकी चरण-चिह्न पूजा और निषधि स्थापन प्रथाका भी उन लोगोपर असर पड़ा था ।^१ परिणाम स्वरूप इस प्राचीन कालमें जैनी उपरान्त ई० छठी सातवीं शताब्दिसे कहीं ज्यादा सम्मान्य और प्रतिष्ठित थे ।

तामिल महाकाव्योंसे तत्कालीन जैन संघकी क्रियायोंका ठीक परिचय मिलता है । उनसे प्रगट है कि जैन संघकी रूपरेखा । निर्ग्रन्थ आधुगण ग्रामों और नगरोंके बाहर पल्लियों या विहारोंमें रहते थे, जो शीतल छायासे युक्त और लाल रंगसे पुनी हुई ऊंची दीवारोंसे वेष्टित थे । उनके आगे छोटे-छोटे बगीचे भी होते थे । उनके मंदिर तिगहों और चौगहों पर बने होते थे । उनके अनेक प्लेट-फार्म बने हुये थे जिन परसे वह धर्मोद्देश दिया करते थे । उन विहारोंके साथ साथ ही आर्यिकाओंके विश्राम भी हुआ करते थे; * जिनसे प्रगट है कि तामिल स्त्री समाजपर जैनी आर्यिकाओंका काफी प्रभाव था । चोलोंकी राजधानी कावेरीपुमपट्टिनम्, तथा कावेरी तटपर स्थित उरड्युमें उल्लेखनीय वस्तियां और विहार थे । मदुरा जैन संघका केन्द्र था^२ । वहां सन्निकट गुफाओंमें जैन

१-साइजें पृ० ४८-४९; जैसाइं पृ० १२८..... *-उपाध्यायोंके शिक्षाश्रमों और आर्यिकाओंके विश्रामोंका उल्लेख शास्त्रोंमें भी है । (उपु० कच०) २-साइजें, भा० १ पृ० ४७ ।

मुनियों का आवासना पता चलता है ।^१ वे मुनिगण दिगम्बर मूर्ति-यों की बंदना करते थे, यह बात उन गुफाओं में मिली हुई प्रतिमाओं से स्पष्ट है । तामिल काव्यों से प्रगट है कि तब के जैनी बहैत् भगवान की भव्य मूर्तिकी पूजा किया करते थे । वह मूर्ति अक्सर तीन छत्रों से और अशोक वृक्ष से संहित पद्मासन हुआ करती थी । वे जैनी दिगम्बर थे, यह उनके वर्णन से स्पष्ट है तथा वे राज्यमान्य भी थे ।^२

“मणिमेखलै” काव्य से जैन सिद्धांत के उस समय प्रचलित रूप का भी दिग्दर्शन होता है ।^३ उससे

जैन सिद्धांत । लिखा है कि “मणिमेखलाने निगंट (निग्रन्थ) से पूछा कि तुम्हारे देव कौन

हैं और तुम्हारे धर्मशास्त्रों में क्या लिखा है ? उसने यह भी पूछा कि लोक में पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश किस तरह होता है ? इसमें निगंट ने बताया कि उनके देव इन्द्रों द्वारा पूज्य हैं और उनके बताये हुये धर्मशास्त्रों में इन विषयों का विवेचन है । धर्म, अधर्म, काल, आकाश, जीव, शास्वत परमाणु, पुण्य, पाप, इनके द्वारा रचित कर्मबंध और इस कर्मबंध से मुक्त होने का मार्ग । पदार्थ अपने ही स्वभाव से अथवा पर पदार्थों के संयोगवर्ती प्रभावानुसार अनित्य अथवा नित्य हैं । एक क्षणमात्र के समय में उनकी तीनों दशायें—

१—मर्मपाजस्मा०, पृ० १०७ । २—साइजे०, भा० १ पृ० ४८ ।

“That these Jains were the Digambaras is clearly seen from their description.”—SIJ. P. 48

३—साइजे०, भा० १ पृ० ९०—९१ ।

वस्तुवाद, व्यय, ध्रौव्य होजाती हैं। हरे चनेको और चीजोंके साथ मिठाकर मिठई बनाली गई परन्तु चनेका स्वभाव यहां नष्ट नहीं हुआ, यद्यपि उसका रूप बदल गया ! धर्मद्रव्य हर ठौर है और वह प्रत्येक वस्तुको व्यवस्थित रीतिसे हमेशा चलानेमें कारण है। इसी तरह अधर्मद्रव्य प्रत्येक पदार्थको स्थिर रखनेमें कारण है और सर्व विनाशको रोकता है। काल क्षणवर्ती और सागरोग्र भी है। आकाश सब पदार्थोंको स्थान देता है। जीव एक शरीरमें प्रवेश करके पांच इन्द्रियों द्वारा चखता, सुंघता, छूता, सुनता और देखता है। एक अणु शरीररूप अथवा अन्यरूप (अनेक परमाणुओंसे मिलकर) हो जाता है। पुण्य और पापमई कर्मों से श्रोतको रोकना, संचित कर्मोंका परिणाम भुगता देना और सर्व बन्धनोंसे मुक्त होजाना मोक्ष है।” जैनसिद्धांतका यह रूप ठीक वैसा ही है जैसा कि आज वह मिल रहा है।

अच्छा तो, यहां तकके विवेचनमें यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारतमें दिगम्बर जैनधर्म ही प्राचीनकालसे

श्वेताम्बर जैनी । प्रचलित था और उसकी मान्यता भी

जनसमुदायमें विशेष थी। किन्तु प्रश्न

यह है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके जैनी दक्षिणभारतमें कब पहुंचे ?

इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये जैन संघके इन दोनों सम्प्रदायोंका उत्पत्तिकाल हमें स्मरण रखना चाहिए। यह सर्वमान्य है कि जैनसंघमें

मेदकी जड़ मौर्यकालमें ही पड़ गई थी। उत्तरभारतमें रहे हुये संघमें क्षत्रिजाचार प्रवेश कर गया था और उस संघके साधुओंने एक

पहनना भी आरम्भ कर दिया था। किन्तु जब प्राचीन भद्रबाहु संन्यसे नम्र साधुगण उत्तममें आये तो आपसमें संपर्ष उद्दिश्य हुआ। समझौतेके प्रयत्न हुये परन्तु समझौता न हुआ। दुष्कालमें शिबिका-चारको प्राप्त हुये साधुओंने अपनी मान्यताओंका पोषण करना आरम्भ कर दिया। शुरुमें उन्होंने एक खंडवस्त्र ही कज्जा निवारणके लिये धारण किया—वैसे बह रहे प्राचीन नम्रवेषमें ही।

मथुराके पुगतात्वमें कण्ह नामक एक मुनि अपने हाथपर एक खण्डवस्त्र बटकाये हुये नम्र वेषको छुपते एक आयागपटमें दर्शाये गये हैं।^१ धीरे धीरे जैसे समय बढ़ता गया यह मतभेद और भी बढ़ हो गया और आखिर ईस्वी पहली शताब्दिमें जैन संघमें दिगम्बर और श्वेताम्बर भेद विस्फुलक स्पष्ट होगये।^२ यही कारण है कि दक्षिण भारतके प्राचीन साहित्य और पुगतात्वमें हमें श्वेताम्बर संप्रदायका वल्लेख नहीं मिलता है। कहा जाता है कि मौर्य सम्राट् सम्प्रतिने दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रचार कराया था; परन्तु यह नहीं कहा जासکتा कि उस धर्मका रूप क्या था? हमारे ख्यालसे वह बही होना चाहिये जो उपरोक्त तामिल काठ्यमें चित्रित किया गया है। यदि वह धर्म तामिल काठ्योंमें वर्जिन धर्मसे भिन्न था, तो कहना होगा कि सम्प्रति द्वारा भेजे गये धर्मों देशकोंको दक्षिणमें सफलता नहीं मिली थी। श्वेताम्बरीय सास्त्रोंमें प्रगट है कि कालकाचार्य पैठनके राजाके गुरु थे; जिसका अर्थ यह होता है कि वह आग्नेय देशतक पहुंचे

१-जैस्तु।० पृष्ठ २४-पृष्ठ नं० १७। २-संज्ञे०, भा० २ खंड २ पृ० ७९-८८।

थे । उपरांत ईस्वी पहली दूसरी सताब्दिमें श्वेताम्बरीय बादकिसा-
चार्य मलखेदतक पहुंचे थे; किन्तु यह नहीं कहा जासकता कि वह
अपना मत फैलानेमें कहांतक सफल हुये थे । ईस्वी पांचवीं सता-
ब्दिके एक ताम्रपत्रके लेखमें पहले पहले श्वेताम्बर जैन संघका
बड़ेका मिलता है ।^१ परन्तु इसके बाद फिर उनका कोई बड़ेका
नहीं मिलता ।

श्री भद्रबाहु श्रुतकेवलीके बहुप्रसिद्ध संघके उपरांत शास्त्रोक्ति
हमें दक्षिण पथके उस दिगम्बर जैन-
श्रीधरसेनाचार्य संघका पता चलता है, जो श्रीधरसेना-
और चार्यजीके समयमें महिमा नगरीमें संभि-
भुत-उद्धार । लित हुआ था । यह नगरी वर्तमान
सतारा जिलेका ' महिमानगढ़ ' नामक

गांव प्रगट होता है । इस संघने परामर्श करके अ.प्रदेशस्थ वेण्यातड
नगरसे दो सकलकला-पारगामी एवं तीक्ष्णबुद्धिके धारक मुनि पुंग-
वोंको श्रीधरसेनाचार्यजीके निकट श्रुत अध्ययनके लिये भेजा था ।
श्रीधरसेनाचार्य उस समय सौ.गृहे प्रसिद्ध नगर गिरिनगरके निकट
चंद्रगुफामें विराजमान थे । उपरोक्त दोनों शिष्योंके नाम उन्होंने
क्रमशः भूतबलि और पुष्पदंत रखे थे और उन्होंने उनको ' महा-
कर्मप्रकृतिप्रभृत ' नामक ग्रन्थ भी पढ़ा दिया था । उपरांत
श्रीधरसेनाचार्यजीने उन दोनों आचार्योंको बिदा किया, जिन्होंने
अंकलेश्वर (भरोच जिला) में जाकर वर्षाकाल व्यतीत किया ।

वर्षायोगको समाप्त करके तथा जिनपालितको देखकर पुष्पादंताचार्य बनवास देशको चले गये और भूतबलिजी द्रामिल (द्राविड़) देशको प्रस्थान कर गये। इसके बाद पुष्पादंताचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस सूत्रों (विंशति प्रवृत्तनात्मक सूत्रों) की रचना कर और ये सूत्र जिनपालितको पढ़ाकर उसे भगवान् भूतबलिके पास भेजा। उन्होंने जिनपालितपर उन बीस सूत्रोंको देखा और उसे अल्पावु जानकर श्रुतस्वाक भावसे उन्होंने 'षट् स्वप्णागम' नामक ग्रंथकी रचना की।^१ इस समय श्री भूतबलि आचार्य संभवतः दक्षिण मधुराधे विराजमान थे।^२ 'इस तरह इस षट्स्वप्णागमश्रुतके मूल मंत्रकार श्री वर्द्धमान महावीर, अनुमंत्रकार गौतमस्वामी और उपमंत्रकार भूतबलि-पुष्पदन्तादि आचार्योंको समझना चाहिये।'

उन्होंने दक्षिण भारतके प्रधान नगरोंमें रहकर श्रुतज्ञानकी रक्षा की थी। दक्षिणमें ही श्री गुणधराचार्यने 'कसाय पाहुड' नामक ग्रन्थमहार्णवका सार खींच कर प्रवचन वात्सल्यका परिचय दिया था। ये सूत्रगाथायें आचार्य-परम्परासे चलकर आर्यमंथु और नाग-इस्ती नामके आचार्योंको प्राप्त हुई थीं और उन दोनों आचार्योंसे उन गाथाओंका भले प्रकार अर्थ सुनकर यतिवृषभाचार्यने उन पर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की, जिनकी संख्या छह हजार श्लोक-परिमाण है।^३ उपरोक्त दोनों सूत्रग्रन्थोंको लेकर ही उन पर 'घवला' और 'जयघवला' नामक टीकायें रची गई थीं। इसप्रकार दक्षिण भार-

१-जैसिमा०, ३ किरण ४ पृष्ठ १२७-१२८। २-श्रुतावतार कथा, पृष्ठ २० व संजैइ० भा० २ खंड २ पृष्ठ ७२। ३-जैसिमा, भा० ३ किरण ४ पृष्ठ १३१।

उके जैन संघ द्वारा श्रुज्ज्ञानका संरक्षण और प्रवर्तन हुआ था। वे प्रन्थ अबतक दक्षिण भारतके मूढ़विद्वी नामक स्थानमें सुरक्षित हैं; परन्तु अब उनका थोड़ा बहुत प्रचार उत्तर भारतमें भी होचला है।

श्री इन्द्रनंदि कृत 'श्रुतसागर'के आधारसे यह बात हम पहले ही प्रगट कर चुके हैं कि इस घटनाके समय **संघ-भेद**। जैनसंघ नंदि, देव, सेन, वीर (सिंह) और भद्र नामक उपसंघोंमें विभक्त होगया था।

वे विभाग श्री अर्हद्वलि आचार्य द्वारा किये गये थे, परन्तु इनमें कोई सिद्धांतभेद नहीं था। यह मात्र संघ व्यवस्थाकी सुविधाके लिये अस्तित्वमें लाये गये प्रतीत होते हैं। शिमोगा जिलेके नगरतल्लुमें हमच स्थानसे प्राप्त शक सं० ९९९ के लिखे हुये कनडी शिलालेख (नं० ३५) से भी स्पष्ट है कि भद्रबाहुस्वामीके बाद यहां कलिका-लका प्रवेश हुआ था और उसी समय गणभेद उत्पन्न हुआ था।^१ अर्थात् जैनसंघ कई उपसंघों या गणोंमें बंट गया था। यह इस सम-यकी एक विशेष घटना थी।

उपरान्त श्री भद्रबाहु स्वामीकी परम्परामें अनेकानेक लोक-मान्य, ज्ञान-विज्ञान पारगामी और धर्म-प्रभावक निर्ग्रन्थ आचार्य हुये थे। उनमेंसे इस कालसे सम्बन्ध रखनेवाके

कतिपय आचार्योंका संक्षिप्त परिचय यहां पर दिया जाना अनुपयुक्त

१-संज्ञे०, भा० २ खंड २ पृष्ठ ७२-७३।

२-"....भद्रबाहुस्वामीगलिन्दशत कलिकालवर्त्तनेर्धि गणभेदं प्रवृद्ध...."

-ब्रा० जीवनी पृष्ठ १९३।

नहीं है । परन्तु साथ ही हमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि श्री अर्हद्वलि आचार्य द्वारा उच्युक्त प्रकार उपसंघ स्थापना होनेपर निर्ग्रन्थ संघ उपरान्त संभवतः उन आचार्यही नाम अपेक्षा 'बलात्कार-गण' के नामसे प्रसिद्ध हुआ था । कहा जाता है कि इसी समय गिरिनार पर्वत पर तीर्थकी बंदना पहले या पीछे करनेके प्रश्नको लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बरोंमें बाढ़ उपस्थित हुआ था । दिगम्बरोंने वहां पर स्थित 'सरस्वती देवी' की मूर्तिके मुखसे कहलवा कर अपनी प्राचीनता और महत्ता स्थापित की थी । इसी कारण उनका संघ 'मूलसंघ सरस्वती गच्छ' के नामसे प्रसिद्ध होगया था । इसके बाद मूलसंघमें श्री कुन्दकुन्द नामके एक महान् आचार्य

१-जे०, भा० २० पृ० ३४२ ।

दिगम्बराचार्यकी इन मान्यताओंका आचार केवल मध्यकालीन पट्टावलियां हैं । इसी कारण इन मान्यताओंको पूर्णतया प्रमाणिक मानना कठिन है । परन्तु साथ ही यह भी एक अति साहसका काम होगा, यदि हम इनको सर्वथा अविश्वसनीय कहें; क्योंकि इनमें जो प्राकृत गाथायें दी गई हैं वह इनकी मान्यताओंको प्राचीन पुष्ट करती हैं । यही कारण है कि डॉ० हॉन्डे सा० ने भी इन पट्टावलियोंको सर्वथा अस्वीकृत नहीं किया था । यदि थोड़ी देर के लिए हम इन पट्टावलियोंकी मान्यताओंको कपोलपलित घोषित करें, तो फिर वह कौनसे प्रमाण और साधन होंगे जिनके आधारसे हम 'मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण, कुन्दकुन्दान्वय' आदि सम्बन्धी विवरण उपस्थित कर सकेंगे ? इसलिये हमारे विचारसे इन पट्टावलियोंको हमें उस समय तक अवश्य मान्य करना चाहिये जबतक कि उनका वर्णन अन्य प्रकार अन्यथा सिद्ध न होजाय ।

हुये थे । उन्होंने संघमें नवजीवन डाला था । इसीलिये मूल-संघके साधुगण अपनेको 'कुन्दकुन्दान्वयी' घोषित करनेमें गौरवका अनुभव आज पर्यंत करते आये हैं । यह बात भगवान् कुन्दकुन्दस्वामीके व्यक्तित्वकी महानताको प्रगट करनेके लिये पर्याप्त हैं । ऐसे आचार्य-प्रवरका संक्षिप्त परिचय पाठकोंको अवश्य रुचिकर होगा—आइये, उनकी एक शांकी यहां ले देखें ।

आज जैन-संघमें अंतिम तीर्थंकर भ० महावीर वर्द्धमान और गणधर गौतमस्वामीके उतरांत भगवान् भ० कुन्दकुन्दाचार्य । कुन्दकुन्दको ही स्मरण करनेकी परिपाटी प्रचलित है^१ जिससे कुंदकुंदस्वामीके आसनकी उच्चता स्पष्ट होती है । शिलालेखोंमें उनका नाम कोण्डकुंद लिखा मिलता है, जिसका उद्गम द्राविड भाषासे है । उसीका श्रुतिमधुररूप संस्कृत साहित्यमें कुंदकुंद प्रचलित है ।^२ कहते हैं कि इन आचार्यप्रवरका यथार्थ नाम पद्मनंदि था, परन्तु वह कुंदकुंद, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ नामोंसे भी प्रसिद्ध थे ।^३ वह कुंदकुंद नामक स्थानके अधिवासी थे, इसी कारण वह

१—“मंगलं भगवान् बीरो, मंगलम् गौतमो गणी ।

मंगलं कुन्दकुन्दाद्यः, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥”

२—जैन शिलालेखसंग्रह (भा० प्र०) भूमिका देखो ।

३—एका० भा० २ नं० ६४, ६६; इंऐ० भा० २३ पृष्ठ १२६ ।

वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छ नामके दूसरे आचार्य मिलते हैं । इसलिये कुन्दकुन्दस्वामीके ये दोनों नाम विद्वानों द्वारा अस्वीकृत हैं । इसी तरह उनका विदेह-गमन भी संदिग्ध दृष्टिसे देखा जाता है ।

कोण्डकुंदाचार्य नामसे प्रसिद्ध हुए थे । 'बोधप्रामृता' में कुन्दकुन्द-स्वामीने अपनेको श्री भद्रबाहुस्वामीका शिष्य लिखा है । 'पुण्याश्रव कथा' ग्रंथसे स्पष्ट है कि दक्षिण भारतके पितृथनाडू प्रांतमें कुरुमाय नामक गांव था, जिसमें कामुण्ड नामक एक मालदार सेठ रहता था । उसकी पत्नी श्रीमती थी । उन्हींके कोखसे भगवान् कोण्डकुन्दका जन्म हुआ था । वह जन्मसे अतिशय क्षयोपशमको लिये हुये था । और युवा होते होते वह एक प्रकाण्ड पण्डित होगये थे । कोण्डकुन्दका गृहस्थ जीवन कैसा रहा यह कुछ ज्ञात नहीं; परन्तु मुनिदीक्षा लेनेपर वह पद्मनन्दि नामसे प्रसिद्ध हुये थे—आचार्य रूपमें यही उनका यथार्थ नाम था । पद्मनन्दि स्वामी महान् ज्ञानवान् थे—उस समय उनकी समकोटिका कोई भी विद्वान् न था । विदेहस्थ श्रीमंघरस्वामीके समवस्त्रणमें उनको सर्वश्रेष्ठ साधु घोषित किया गया था और वह स्वयं विदेह देशको श्रीमंघरस्वामीकी वंदना करके ज्ञान प्राप्त करने गये थे । शिवकुमार नामक कोई नृप उनके शिष्य थे ।^१ उन्होंने भारतमें जैन धर्मका खूब ही उद्योत किया था । उनका समय ईस्वी प्रथम शताब्दिके लगभग था । द्राविड संघसे भी उनका सम्बन्ध था । आखिर वह दक्षिणके ही नर-रत्न थे । कहते हैं कि उन्होंने ८४ पाहुड़ ग्रंथोंकी रचना की थी; परन्तु

विशेषके लिये प्रो० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित "प्रवचनसार" की अंग्रेजी भूमिका तथा पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी उसकी समालोचना (जैसिभा० भा० ३ पृ० ९३) देखना चाहिए ।

१-प्रो० चक्रवर्तीने इन्हें पल्लववंशके शिवस्कन्धकुमार नृप बताया है ।
—प्रसा० भूमिका पृ० २० ।

उस समय उनके रचे हुए निम्नलिखित ग्रंथ मिलते हैं—

(१) दशभक्ति, (२) दंसणपाहुड़, (३) चारितपाहुड़, (४) सुत्तपाहुड़, (५) बोधपाहुड़, (६) भावपाहुड़, (७) मेवलपाहुड़ (८) लिङ्गपाहुड़, (९) शीलपाहुड़ (१०) ग्यणसार, (११) बारस अणु-
वेक्ता, (१२) नियमसार, (१३) पञ्चास्तिकायसार, (१४) सम-
सार, (१५) प्रवचनसार ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके उपरोक्त सब ही ग्रन्थ प्राकृत भाषामें
रचे गये थे और दिगम्बर जैन संघके लिये
कुरल । एक अमूल्य निधि हैं । किन्तु इन आचार्यने

तामिलभाषामें भी ग्रन्थरचना की थी, किन्तु
खेद है कि इस समय उनकी कोई भी तामिल-रचना उपलब्ध नहीं
है । अलबत्ता तामिलके अपूर्व नीतिग्रंथ 'कुरल' के विषयमें कहा
जाता है कि वह श्री कुन्दकुन्दाचार्यकी ही रचना है । तामिल लोग
इस ग्रन्थको अपना 'वेद' मानते हैं और वह है भी सर्वमान्य । शैव,
बैष्णव, जैन, बौद्ध—सब ही उसकी शिक्षासे प्रभावित हुये थे और
सब ही उसे अपना पवित्र ग्रन्थ प्रगट करते हैं; परन्तु विद्वानोंने गहरी
शोधके पश्चात् उसे श्री कुन्दकुन्दस्वामीकी ही रचना ठहराया है ।^१
जैन ग्रन्थ 'नीलकेसी' के टीकाकार उसे जैन ग्रंथ ही प्रगट करते
हैं ।^२ उसपर 'कुरल'में निम्नलिखित ऐसी बातें हैं जो उसे सर्वथा

१—साईजै०, भा० १ पृ० ४०—४३ । "Kural was certainly
composed by a Jain."—Prof. M. S. Ramaswami
Iyengar, SIJ., I 89.

२—'नीलकेसीटीका' में उसे 'इमोत्तु' अर्थात् 'हमारा वेद' कहा है ।

एक जैनाचार्यकी ही रचना प्रमाणित करते हैं:-

(१) कुण्डघर्षे (परिच्छेद १) पहले ही मंगलस्तुति रूपमें 'अ' वर्णका स्मरण करते हुये उसे खण्डलोकका मूल स्थान और आदि-
कालको लोकोंको मूल स्रोत कहा है, जो जैन मान्यताके अनुकूल है ।
जैन शास्त्रोंमें 'अ' वर्णका सांख्यिक और सांकेतिक महत्त्व खूब ही
प्रतिपादित किया गया है । 'ज्ञानार्णव' में 'अ' वर्णको ५०० बार
जपना एक उपवासके तुल्य बताया है । (वृजेश० भा० १ पृ० १-२)

(२) पहले परिच्छेदमें उपरान्त एक सर्वज्ञ परमेश्वर जिसने
कमलों पर गमन किया (मलमिसहयेगिनान) और जो आदि पुरुष है
तथा जो न किसीसे प्रेम करता है और न घृणा एवं जो जितेन्द्रिय
है, उसकी बंदना करनेका विधान है । जैन ग्रन्थोंमें आप्तके जो
लक्षण बताये गये हैं उनमें उसे सर्वज्ञ-रागद्वेष रहित और वीतराग
स्वाप्त रीतिसे बताया गया है ।^१ इस कल्पकालमें आदितीर्थङ्कर,
आदिनाथ या ऋषभदेव मुख्य आप्त हैं; इसी लिये शास्त्रोंमें उन्हें
आदि पुरुष भी कहा गया है ।^२ 'कुरल' के रचयिता भी उन्हींका
स्मरण करते हैं । वह सर्वज्ञ तीर्थङ्कर रूपमें जब विहार करते थे तब
देवेन्द्र उनके पग तले कमलोंकी रचना करता जाता था । और वह
उसपर गमन करते थे ।^३ यह विशेषता जैन तीर्थङ्करकी स्वाप्त है ।
'कुरल' के कर्त्ता उसका उल्लेख करके अपना मत स्पष्ट कर देते हैं ।

(३) आगे इसी परिच्छेदमें 'कुरल' के रचयिता अर्हन्त या

१-Divinity in Jainism देखो । २-जिनसहस्र नाम देखो ।

३-आपु० पर्व २२-२३ ।

तीर्थंकर भगवानका स्मरण करके सिद्ध परमात्माका स्मरण करते हैं और उन्हें अष्टगुणोंसे अभिभूत परमव्रतस (वेत्ता-नाथन्) बताते हैं। जैन ग्रंथोंमें परमव्रतस सिद्ध परमात्माको निम्नलिखित अष्टगुणोंसे युक्त बताया गया है:- (१) कायिक सम्यक्तव, (२) अनन्तदर्शन, (३) अमन्तज्ञान, (४) अनन्तवीर्य, (५) सूक्ष्मत्व, (६) अवगाहनत्व, (७) अमररूपत्व, (८) सत्त्वाभावत्व।^१ अन्वय परमात्माके यह आठ गुण ज्ञान्य ही मिलें।

(४) तीसरे परिच्छेदमें संसारत्यागी पुरुषोंकी महिमाका वर्णन है। उसमें उनको सर्वस्वका त्यागी और पाँचों इन्द्रियोंको कर्षण रखकर तापसिक जीवन व्यतीत करनेवाला लिखा है। इन्द्रियविम्व कमशः कन्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध बताये हैं। साथ ही साधु प्रकृति पुरुषोंकी ब्राह्मण कहा है। जैनधर्ममें साधु सर्वस्वत्यागी, इन्द्रियनिरोधी तपस्वी कहा गया है। इन्द्रियोंकी संख्या और उनके विषय भी जैन मान्यतानुसार हैं।^२ खास बात यह है कि ऐसा साधु जैन दृष्टिसे एक सच्चा ब्राह्मण है। "कुरल" में यही प्रगट किया गया है।

(४) चौथे परिच्छेदमें धर्मका फल मोक्ष और धर्म अपने मनको पवित्र रखनेमें बताया है। उसमें आगामी जन्मोंका मार्ग बन्द होजाता है। 'भावगहुड' में श्री कुन्दकुन्दावर्यने इसी प्रकार मन शुद्धिका विधान किया है। जैन सिद्धांतमें पुण्य-पापका माप मनुष्यके भावोंसे ही किया जाता है।

६। पाँचवें परिच्छेदमें गृहस्थ जीवनके लिये देवपूजा, अतिथि-सत्कार, बन्धु-बांधवों की सहायता और आत्मोज्जति करना आवश्यक बताया है। भगवत् कुंदकुम्भस्वामीने भी देवपूजा करना और दान देना तथा आत्मोज्जति करन एक गृहस्थके लिये मुख्य कर्म बताया है।

(७) नवें परिच्छेदमें अतिथिको भोजन देने और मेहमान-दारीका विधान है। जैन शास्त्रोंमें गृहस्थके लिये एक अलग 'अतिथि संविभाग' वर्त है।

(८) उन्नीसवें परिच्छेदके अंतिम पदमें 'कुरल' मनुष्यको निज दोषोंकी आलोचना करनेका उपदेश देता है। जैनधर्ममें प्रत्येक गृहस्थके लिये प्रतिक्रमण-दोषोंके लिये आलोचनादि करना लाजमी है।

(९) बीसवें परिच्छेदमें छायाकी तरह पाप-कर्मोंको मनुष्यके साथ लगा रहते और सर्वस्व नाश करते बताया है; जो सर्वथा जैन मान्यताके अनुकूल है। मरने पर भी जन्मान्तरों तक पाप-कर्म मृता-त्मासे लिस रहकर उसको कष्टका कारण बनते हैं, यह जैन मान्यता सर्वविदित है।

(१०) पचीसवें परिच्छेदमें जैन शास्त्रोंके सदृश ही निरामिष भोजनका उपदेश है। यदि कुरलका रचयिता जैन न होकर वैदिक ब्राह्मण अथवा बौद्ध होता तो वह इस प्रकार सर्वथा मांस-मदिरा त्याग करनेका उपदेश नहीं दे सकता था; क्योंकि उन लोगोंमें इनका सर्वथा निषेध नहीं है।^२

(११) तीसवें परिच्छेदमें बहिंसाको सब धर्मोंमें अष्ट कहा है और उसके बाद सत्यको बताया है । जैन दर्शनमें भी बहिंसाकी यही विशेषता है । इसी परिच्छेदमें बहिंसाका भी निषेध है ।

(१२) बत्तीसवें परिच्छेदमें त्यागका उपदेश देने हुये ब्रती पुरुषको अपने पास कुछ भी न रखनेका विधान है—उसके लिए तो यह शरीर भी अनावश्यक है । जैनधर्म भी तो यही कहता है ।

(१३) अस्सीवें परिच्छेदमें कहा गया है कि उच्च कुलमें जन्म लेनेसे ही कोई उच्च सज्जन नहीं होजाता और जन्मसे नीच होनेपर भी जो नीच नहीं है वह नीच नहीं होसकते । जैन शास्त्रोंमें पद-पद पर यही उपदेश भरा मिलता है ।^१ भगवत् कुन्दकुन्द-स्वामीने भी इसी बातका उपदेश दिया है ।^२

यह एवं ऐसी ही अन्य बातें इस बातको प्रमाणित करती हैं कि 'कुरल' के रचयिता एक जैनाचार्य थे, जिन्हें विद्वज्जन श्री कुन्दकुन्दाचार्य बताते हैं । इस प्रकार भगवत् कुन्दकुन्दके पवित्र जीवनकी रूपरेखा है ।

उनके पश्चात् जैन संघमें भगवान् उमास्वातिका विशाल और विशुद्ध अस्तित्व मिलता है,
अ० उमास्वाति । जिस प्रकार भगवान् कुन्दकुन्दकी मान्यता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों

१-पतितोंद्वारेक जैनधर्म देखो ।

२-गर्विं देहो वंदिज्जइ णवि य कुल्लो णवि यंजाइ सज्जुत्तो ।

को वंदिय गुणहीणो ण ह सवणा णेय सावजो होइ सराओ

संप्रदायोंके लोगोंमें थी, उसी प्रकार भगवत् उमास्वाति भी दोनों संप्रदायों द्वारा मान्य और पूज्य थे । दिगम्बर जैन साहित्यमें उन्हें भगवान् कुन्दकुंदाका वंशज प्रगट किया गया है और उनका पुत्रा नाम गृहपिच्छाचार्य भी लिखा है ।^१ किन्तु उनके गृहस्थ जीवनके विषयमें दिगम्बर शास्त्र मौन हैं । हां, श्वेतांबरीय 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य' में उमास्वाति महाराजके विषयमें जो प्रशस्ति मिलती है, उससे पता चलता है कि उनका जन्म न्यग्रोधिका नामक स्थानमें हुआ था और उनके पिता स्वाति और माता वात्सी थीं । उनका गोत्र कौमीषणि था । उनके दीक्षागुरु श्रमण घोषनंदि और विश्वागुरु वाचकाचार्य मूल नामक थे । उन्होंने कुसुमपुर नामक स्थानमें अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' रचा था ।^२ दोनों ही संप्रदायोंमें उमास्वातिको 'वाचक' पदवीसे अलंकृत किया गया है ।^३ श्वेतांबरीकी मान्यता है कि उन्होंने पांचसौ ग्रंथ रचे थे और

१-रआ० स्वामी समन्तभद्र पृष्ठ १४४ एवं 'लोकवार्तिक' का निम्न कथन—

“ एतेन गृहपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण ।

व्यभिचारिता निरस्ता प्रकृतसूत्रे ॥ ”

भ० कुंदकुंदका भी एक नाम गृहपिच्छाचार्य था । शायद यही कारण है कि श्रवणबेलगोडके किन्हीं शिखाछेखोंमें भ० कुंदकुंद और भ० उमास्वातिको एक ही व्यक्ति गळतीसे लिख दिया है । (इका० भा० २ पृ० १६) । २-अनेकान्त, वर्ष १ पृष्ठ ३८७ ।

३-पूर्व पृ० ३९४-३९५ एवं “ जिनेन्द्रकल्याणाम्युदय ” का निम्न लोकः—

वह इस समय तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके अतिरिक्त 'जम्बूद्वीप समास प्रकरण, भावक प्रज्ञप्ति, क्षेत्रविचार, प्रश्नमरति और पुत्रा प्रकरण' नामक ग्रंथोंको उनकी रचना बताते हैं, परन्तु विद्वज्जन केवल 'प्रश्नमरति' को म० उमास्वाति की रचना होना शक्य समझते हैं ।^१ इससे शक नहीं कि म० उमास्वाति अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे । उन्होंने जैन आगममें प्रसिद्ध सैद्धांतिक एवं स्वर्गोल भूगोल आदि सब ही विषयोंका संक्षिप्त संग्रह अपने 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्रमें' कर दिया है, यही कारण है कि उनका यह ग्रन्थराज आज "जैन बाइबिल" के नामसे प्रसिद्ध है । शायद संस्कृत भाषा में जैनोंकी यही सबसे पहली उल्लेखनीय रचना है । इसकी उत्पत्तिके विषयमें कहा जाता^२ है कि सौराष्ट्रके गिरिनगर (जुनागढ़) नामक स्थानमें आसक्त-प्रव्य द्विज कुलोत्पन्न, श्वेतांबरभक्त एक 'सिद्धय्य' नामका विद्वान् आचर रहता था । उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह एक सूत्र रचा और उसे पाटियेपर लिख छोड़ा । एक समय चर्चावैभी गृह्यपिच्छाचार्य उमास्वाति नाम धारक आचार्य वहां आये । उन्होंने वह सूत्र देखकर उसमें 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया । 'सिद्धय्य' ने जब यह देखा तो वह उन आचार्यके पीछे भागा और उन्हें दंडुकर उनसे उस 'मोक्षशास्त्र' को रचनेके लिये प्रार्थी हुआ । आचार्य

“ पुण्यदन्तो भूतबलिः जिनचंद्रो मुनिः पुनः ।

कुंदकुंदमुनीन्द्रोमास्वातिवाचकसंजितौ ॥”

(अनेकान्त पृ० ४०६ फुटनोट)

१—अनेकान्त, वर्ष १ पृ० ३९४ ।

२—'तत्त्वचरमदीपिका' —अनेकान्त वर्ष १ पृ० २०० ।

महागजन उसकी यह प्रार्थना स्वीकार की और 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' को रच दिया । 'सिद्धय' के निमित्तसे इस ग्रंथगजके रचे जानेका उल्लेख संभवतः 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में भी है ।^१ निस्सन्देह सिद्धयके निमित्तमे रचा हुआ यह ग्रन्थगज जैनसिद्धांतकी अमूल्य निधि है । यही कारण है कि उपरान्त जैनाचार्योंने म० उमास्वातिका स्मरण बड़े ही सम्माननीय रीतिसे किया और उन्हें 'श्रुतकेवल देशीय' एवं 'गुणगंभीर' भी लिखा ।^२ श्रुतसागरजीने इनका श्रुतिमधुर नाम उमास्वामी रख दिया और तबसे दिगम्बरोंमें इसीका प्रचार होगया; परन्तु प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें उनका नाम उमास्वाति मिलता है । म० उमास्वाति संभवतः श्री कुन्दकुन्दाचार्यके प्रशिष्य थे । इसलिये एवं उनकी सैद्धांतिक विवेचनाशैलीसे, जिसका साम्य 'योगसूत्र' आदिसे है, स्पष्ट है कि वह ईस्वी पहली शताब्दीके विद्वान् थे ।^३

समयानुक्रम म० उमास्वातिके पश्चात् उल्लेखनीय आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी हैं । दिगम्बर विद्वानोंके लिये वह स्तवनीय और प्रमाणभूत हैं ही परन्तु 'श्वेताम्बर विद्वानोंने भी उनकी प्रमाणिक्ताको खुले दिलसे स्वीकार

१-अनेकान्त, वर्ष १ पृ० १९७ ।

२-तत्त्वार्थसुप्रकर्त्ता मुमास्वातिमुनीश्वर ।

श्रुतकेवलदेशीय वन्देऽहं गुणमरिम् ॥ अनेकान्त पृ० ३९९

३-अनेकान्त, पृ० २६९ । ४-पूर्व० पृष्ठ ३८९-३९२ ।

किया है । श्री शुभचंद्राचार्यजीन उन्ह 'भरतमूर्धन' कहा है । श्री समंतभद्राचार्यजीके गृहस्थ जीवनके विषयमें कहा जाता है कि बहुतकरके उन्होंने दक्षिणभारतके कन्नडवंशको अपने जन्मसे सुशो-
भित किया था । यह विदित नहीं कि उनके पिता और माताके नाम क्या थे; परंतु यह ज्ञात है कि उनके पिता फणिमण्डवांतर्गत बरगपुरके क्षत्री नृप थे । स्वामी समंतभद्रका बाल्यकाल जैनधर्मके केन्द्र स्थान हव उरगपुर में व्यतीत हुआ था । उस समय वह शांतिवर्माके नामसे प्रसिद्ध थे । उन्होंने गृहस्थश्रम में प्रवेश किया था नहीं यह प्रगट नहीं, किन्तु यह स्पष्ट है कि वह बाल्यकालसे ही जैनधर्म और जिनेन्द्रदेवके अनन्य भक्त थे । उन्होंने अपने आपको धर्माथि अर्ण कर दिया था । कांचीपुर या उसके सन्निकट कहीं उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण की थी और वही (कांजीश्रम) उनके धर्मकार्योका केन्द्र था । 'राजावली' में उनका वहां अनेक बार पहुंचना लिखा है । उन्होंने स्वयं कहा है कि " मैं कांचीका नम्र माधु हूं । " (कांठ्यां नमाटकोऽऽ) परन्तु उनके गुरुकुलका परिचय प्राप्त नहीं है । यह स्पष्ट है कि वह मूलसंघके प्रधान आचार्य थे । अभारगवश उनको अपने साधुजीवनमें 'भस्मव्याधि' नामक दुस्तद रोग होगया था । वह मनो भोजन खाजाने थे, मगर तृप्ति नहीं होती थी । इस व्याधिको शमन करनेके लिये उन्होंने एक वैष्णव सन्यासीका भेष धारण कर लिया था । कांचीमें उस समय शिवकोटि नामक राजा राज्य करता था और उसका 'मीमलिङ्ग' नामक शिवालय था । समन्तभद्रजी इसी शिवालयमें पहुंचे और उन्होंने राजाको अपना श्रद्धालु बना लिया । सदा मनका मसाद शिवार्पणके लिये आया । समन्तभद्रजीने राजाके

सानन्द अपनी जठराग्नि शान्त की और मंदिरके बाहर आ राजाको अशीर्वाद दिया । राजा प्रसन्न हुआ और प्रतिदिन सवा मनका प्रसाद शिवार्पणके लिये भेजने लगा । समन्तभद्रजी उसके द्वारा अपनी व्याधिको शमन करने रहे; किन्तु जब व्याधि का जोर कम हुआ तो उस प्रवादमेंसे कुछ बचने लगा । उसपर कुछ लोग उनके विरुद्ध हो रहे थे—उन्होंने पता लगाकर राजासे शिकायत कर दी कि महाराज, यह साधु शिवजीको कुछ भी प्रसाद अर्पण नहीं करता, बल्कि सब कुछ स्वयं खा जाता है और शिवलिङ्ग पर पैर पसार कर सोता है । राजाके विस्मय और रोषका ठिठाना न रहा । उसने शिवालयमें आकर समन्तभद्रजीसे यह आग्रह किया कि वह प्रसाद शिवजीको उनके सामने स्वीकृत करें और शिवलिङ्गको प्रणाम भी करें ।

समन्तभद्रजीके लिये यह परीक्षाका समय था; क्योंकि उन्होंने आपत्तिकालमें वैष्णवस धुक भेष अवश्य धारण किया था परन्तु हृदयमें वह दृढ़ अभ्युत्तवी थे । उनके रो-रोममें जैनत्व समाया हुआ था । आखिर उन्होंने दृढ़तापूर्वक राजाकी आज्ञाको शिरोधार्य किया । धाराप्रवाह रूपमें उन्होंने 'स्वयंभूतोऽ' की रचना और उच्चारण करना प्रारम्भ किया । जिस समय वह चन्द्रप्रभ भगवानका स्तोत्र पढ़ रहे थे, उसी समय शिवलिङ्गमेंसे चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रगट हुई । इस अद्भुत घटनाको देखकर सब ही लोग आश्चर्यचकित होगये । राजा शिवकोटि अपने छोटे भाई शिवायन सहित उनके चरणोंमें गिर पड़ा और जैनधर्ममें दीक्षित हुआ । उसके साथ उसकी प्रजाका बहुभाग भी जैनी होगया था । जब समन्तभद्रजीका रोग शांत होगया था । उन्होंने अपने मुदजीके पास जाकर प्रायश्चित्तपूर्वक पुनः दीक्षा ग्रहण की और वह धर्म

प्रचार एवं लोकहितके कार्यमें निरत हो गए । उन्होंने घोर तप तप तथा ज्ञान ध्यान द्वारा अपार शक्तिको संचय किया था । फलतः वह आचार्य हुये और लोग उन्हें जिनशासनका प्रणेता कहने लगे थे ।

जैन सिद्धांतके मर्मज्ञ होनेके सिवाय वह तर्क, व्याकरण, छंद, जलंकार, काव्य, कोषादि ग्रंथोंमें पूर्ण निपुणता थे । वह संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़ी, ताम्रिक आदि भाषाओंके विद्वान् थे, परन्तु उनके द्वारा दक्षिण भारतमें संस्कृत भाषाको जो प्रोत्तेजन और प्रोत्साहन मिला था वह अपूर्व था । उनकी वादशक्ति अप्रतिहत थी । उन्होंने कई बार नंगे पैरों और नंगे बदन देशके इस छोरसे उस छोरतक घूमकर मित्यावादियोंका गर्व खंडित किया था । वह महान् योगी थे और उनको 'चारण-ऋद्धि' प्राप्त थी, जिसके कारण वह अन्य जीवोंको बाधा पहुंचाये बिना ही सैकड़ों कोसोंकी यात्रा क्षीप्रतासे कर लेते थे । एकबार वह करहाटक नगर (जिला सतारा) में पहुंचे थे और वहांके राजापर अपने वाद प्रयोजनको प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था कि:—

‘पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चात्पालवसिन्धुतटविषये कांचीपुरीवैदिशे ।

प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
बादार्थी विचराम्यहं नरवसे शार्दूल-चिक्रीडितं ॥’

इससे प्रकट है कि करहाटक पहुंचनेसे पहले समंतभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके छिबे बिहार किया था उनमें पाटलिपुत्र नगर, पाल्ना, सिधु, ठाण्ड (बंगाल) देश, कांचीपुर और वैदिश थे

प्रधान देश तथा जनपद थे। इनमें उन्होंने वाद करके धर्मप्रभावनाका प्रचार किया था। अपनी लोकहितकारी वाक्गिरा द्वारा उन्होंने प्राणीमात्रका हित साधा था। केवल वाणीसे ही नहीं बल्कि अपनी केशवनी द्वारा भी उन्होंने अपनी लोकहितैषिणी वृत्तिकापरिचय दिया है। उनकी निम्नलिखित अपूर्व रचनायें बताई जाती हैं:-

१-आप्तमीमांसा, २-युक्तप्रशुशासन, ३-स्वयंभूस्तोत्र, ४-जिनस्तुति शतक, ५-रत्नकण्डक उपासकाध्ययन, ६-जीवसिद्धि, ७-तत्त्वानुशासन, ८-प्रकृत व्याकरण, ९-प्रमाणपदार्थ, १०-धर्म-प्राभृत टीका और ११-गन्धःस्तिमहाभाष्य ।

खेद है कि स्वामी समंतभद्रजीके अंतिम जीवनका ठीक पता नहीं चलता। पट्टावलियोंसे उनका अस्तित्व समय सन् १३८ ई० प्रगट होता है। मम० श्री नरसिंहाचार्यजीने भी उन्हें ईश्वरी दूसरी शताब्दिका विद्वान् इस अपेक्षा बताया है कि अरण्यवेत्तगोलकी मल्लि-पेणप्रशस्तिमें उनका उल्लेख गङ्गाज्य संस्थापक सिद्धनंदि आचार्यसे पहले हुआ है, जिनका समय ई० दूसरी शताब्दिका अंतिम भाग है। इसी परसे स्वामी समंतभद्रजीकी जन्म और निधन तिथियोंका अंदाज लगाया जा सकता है।

इस प्रकार तत्कालीन दक्षिण भारतीय जैन संघके यह चमकते हुए तारे थे। इनके अतिरिक्त श्री पुष्पदन्त, मृगबलि, माघनन्दि आदि आचार्य भी उल्लेखनीय हैं; परन्तु उनके विषयमें कुछ अधिक परिचय प्राप्त नहीं है।

१-विशेषके लिये श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार कृत “स्वामी समन्तभद्र” और “वीर” वर्ष ६ का “समन्तभद्राह” देखो।

प्रा० कामताप्रसादजी कृत ऐतिहासिक ग्रन्थ-

भगवान् महावीर ।

यह ग्रन्थ अनेक जैनाचार्य तथा कितने ही भारतीय और पश्चात्त्य ऐतिहासज्ञ विद्वानोंके २३ ग्रन्थोंकी सहायतासे लिखा गया है। इसमें वीर भगवान् के विगत जीवनके अतिरिक्त भगवान् रुक्म-देव, नेमिनाथ और पार्श्वनाथका भी वर्णन है। अंतमें बुद्ध, महावीर एवं महावीरकी सर्वज्ञताके प्रमाण भी दिये गये हैं। पृ० २८० पक्षी जिल्द २) कच्छी जिल्द १॥)

भगवान् पार्श्वनाथ ।

इसमें भगवान् पार्श्वनाथका विस्तृत जीवन ऐतिहासिक रीतिसे अतीव खोजपूर्ण लिखा गया है। तथा यह सिद्ध किया है कि भ० पार्श्वनाथ ऐतिहासिक थे, वे जैन धर्मके स्थापक नहीं थे। जैन धर्मकी प्राचीनता, पुरात्वकी साक्षी, बौद्ध ग्रन्थ, वेद, हिन्दुपुराण, रामायण, महाभारत, और उपनिषदोंमें जैनधर्मका उल्लेख है। इस ग्रन्थका जैन अजैनोमें प्रचार करना योग्य है। पृ० ५०० व. पृष्ठ २॥) मैनेजर, दिगम्बर जैनपुस्तकालय-सुरत ।

भा० कामताप्रसादजी कृत—

भ० महावीर और म० बुद्ध ।

इसमें भ० महावीर और महात्मा बुद्धका तुलनात्मक पद्धतिसे विवेचन किया गया है । वीर और बुद्धके भेदका ज्ञान प्राप्त करना ही तो इस ग्रन्थको अवश्य पढ़िये । पृ० २७२ म० १॥)

वीर पाठावलि ।

इसमें भ० रुषभदेव, सम्राट् भरत, राम-कृष्ण, कृष्ण, नेमिनाथ, भ० पार्श्वनाथ, भ० महावीर, सम्राट् चंद्रगुप्त, वीर संघकी विदुषियां, भ० कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, सम्राट् खारवेल, स्वामी वसंतमद्र, सिद्धांत-चक्रवर्ति श्री नेमिचन्द्राचार्य, भट्टाकलंक देव आदिके २० ऐतिहासिक चरित्र वर्णित किये गये हैं । पृ० १२५ मूल्य ॥) व विचारियोंको ॥)

→॥ पंच-रत्न । ॥←

इसमें महाराज श्रेणिक, सम्राट् महानंद, कुरुंबाधीश्वर, नृप विज्जकदेव और सेनापति वेचप्प ऐसे पांच चरित्र उपन्यास दृष्टसे हैं । मूल्य ॥=)

→॥ नव-रत्न । ॥←

इसमें अरिष्टनेमि, चन्द्रगुप्त खारवेल, चामुण्डराव, मारसिंह, मंगराज, हुल्ल, सावियन्वे और सती रानी ऐसे ९ ऐतिहासिक चरित्र हैं । मूल्य ॥=) मैनेजर, दिगम्बरजैनपुस्तकालय—सुरत ।



॥
वा० कामताप्रसादजीकृत
ग्रन्थ ।

भ० महावीर	२)
भ० पार्श्वनाथ	२॥)
भ० महावीर व म० बुद्ध	१॥)
सं० जैन इतिहास प्र० भाग ॥३)	
„ „ दु० प्र० खंड १॥॥)	
„ „ „ द्वि० „ १=)	
„ „ ती० प्र० „ १)	
वीर पाठावलि	॥॥)
पञ्च-रत्न	१=)
नव-रत्न	१=)
पतितोद्धारक जैनधर्म	१।)
संन्य मार्ग	॥॥)
विशाल जैन संघ	१-)
दिगम्बरत्व व दि० मुनि	१)



मैनेजर,
दिगम्बर जैन पुस्तकालय
सुरत ।

